



नमः सिद्धेय्यः

स्वाधीनता का शंखनाद

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के विशिष्ट प्रवचनों का सङ्कलन

हिन्दी अनुवाद एवं सञ्जादनः
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशन सहयोग :
श्री प्रशान्तभाई दोशी परिवार
पुणे, महाराष्ट्र

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ

तृतीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ

18 जुलाई 2010 अष्टाहिका महापर्व के पावन अवसर पर

ISBN NO. :

न्यौछावर राशि : 18.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

- **TEERTHDHAMMANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com
- **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)
- **SHRI HITENA. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :

मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्री समयसार आदि परमागमों के गम्भीर रहस्य को स्वानुभवगत करके, श्री तीर्थङ्कर भगवान के शुद्धात्मानुभवप्रधान अध्यात्मशासन को जीवन्त रखनेवाले, **आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्तकर आपने असाधारण महान उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्मविद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावना योग का अद्भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तदनुसार 'स्वाधीनता का शंखनाद' नामक पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का सङ्कलन प्रकाशित करते हुए, कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अतिभक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्मदृष्टिवन्त, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु के परमभक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवी, भावश्रुतलब्धि के धनी, सतत ज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासह सम्यक् अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम व्याख्यानकार

और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युगसृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्येता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूपसन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रङ्ग से रङ्गा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

यह परम पुनीत प्रवचन, स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षुजीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य, अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्मरुचि जागृत करके, पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत हैं। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ प्रत्येक वस्तु के परिणमन की स्वतन्त्रता का शंखनाद करनेवाले इन प्रवचनों में समस्त शास्त्रों के समस्त प्रयोजनभूत तत्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानो श्रुतामृत का सुख सिंधु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्मतत्व की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाला परम औषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। परम पूज्य गुरुदेव ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदने के

लिए अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्तों को छुए बिना मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायुवाले मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है; उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं।

इन प्रवचनों का प्रकाशन पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में सोनगढ़ ट्रस्ट द्वारा पुस्तकों एवं आत्मधर्म में हो चुका है। इन्हीं प्रवचनों को भाषा इत्यादि की दृष्टि से पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँ वाले) तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा सम्पादित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन सहयोग के रूप में श्री प्रशान्तभाई दोशी परिवार, पुणे द्वारा प्राप्त सहयोग के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अन्त में यही भावना है कि मुमुक्षु अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, उग्र पुरुषार्थ से, इनमें कथित भावों को सम्पूर्ण रीति से हृदय में उतारकर निज शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को पायें।

पवन जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

सम्पादकीय

परम पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण मङ्गल प्रवचनों का सङ्कलन 'स्वाधीनता का शंखनाद' सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की स्वतन्त्रता के अद्भुत रहस्य का प्रतिपादन किया है। कार्य की उत्पादन सामग्री के रूप में निमित्तोपादानरूप कारणों की स्वतन्त्रता, कार्य के नियामक कारणरूप तत्समय की योग्यता, कार्य की उत्पत्ति में सभी निमित्तों का स्थान धर्मास्तिकायवत् होना - इत्यादि का विशद् विवेचन किया है।

यह तो सर्व विदित है कि पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने पैंतालीस वर्षीय आध्यात्मिक जीवन में जिन प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनमें से क्रमबद्धपर्याय और निमित्तोपादान की स्वतन्त्रता सर्वाधिक चर्चित रहे हैं। आज सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में इन विषयों की गहरी तत्त्वचर्चा का एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को ही जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सङ्कलित प्रवचन मूल में भूल, अध्यात्म वैभव, इष्टोपदेश प्रवचन, समयसार प्रवचन (भाग-4), आत्मधर्म के प्राचीन अङ्कों एवं सद्गुरु प्रवचन प्रसाद हस्तलिखित दैनिक से सङ्कलित किये गये हैं। तदर्थ उक्त ग्रन्थों के सङ्कलनकार एवं सम्पादकों का हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इन प्रवचनों के सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है -

- सम्पूर्ण प्रवचनों को गुजराती के साथ अनुवाद की दृष्टि से मिलाकर, आवश्यक संशोधन किये गये हैं।
- लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है।
- भाषा को सरल-प्रवाहमयी बनाने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर, मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवनशिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य का अवसर प्रदान करने हेतु तीर्थधाम मङ्गलायतन के प्राण श्री पवन जैन एवं पण्डित अशोककुमार लुहाड़िया के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थीजन गुरुदेवश्री की इस महा मङ्गलवाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों - इस पावन भावना के साथ।

तीर्थधाम मङ्गलायतन

देवेन्द्रकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

| | |
|--|-----|
| उपादान-निमित्त दोहा | 1 |
| निमित्त-उपादान चिह्नी | 18 |
| 1. उपादान-निमित्त की व्याख्या और उनके प्रकार | 18 |
| 2. ज्ञान और चारित्र के दृष्टान्तपूर्वक एक ही द्रव्य में निमित्त-उपादान | 23 |
| 3. उपादान-निमित्त की स्वाधीनता का विस्तृत विवेचन | 28 |
| 4. उपादान-निमित्त सम्बन्धी चौभङ्गी : प्रत्येक की स्वतन्त्रता | 41 |
| 5. ज्ञान और चारित्र में गर्भित शुद्धता, किन्तु ग्रन्थिभेद के बिना उसकी निष्फलता | 46 |
| 6. उपादान की स्वतन्त्रता | 52 |
| 7. मोक्षमार्ग का मङ्गलमय उद्घाटन | 57 |
| 8. शुद्धता की अपूर्वधारा प्रगट कर! | 63 |
| 9. स्वतन्त्रता का ढिंढोरा | 69 |
| 10. मोक्षमार्ग का स्वरूप | 77 |
| 11. उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता का उपसंहार | 85 |
| सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् | 93 |
| आत्मा, निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी...! | 106 |
| मिथ्यात्व से होनेवाला भावमरण | 126 |
| वस्तु की स्वतन्त्रता | 137 |
| उपदेश में निमित्त का कथन क्यों ? | 152 |
| उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता | 155 |
| निमित्त-उपादान सम्बन्धी अनेकान्त | 197 |
| अन्तरङ्ग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति | 199 |



परमात्मने नमः

स्वाधीनता का शंखनाद

कविवर पण्डित बनारसीदास कृत

उपादान-निमित्त दोहा

वस्तु का स्वभाव, स्वतन्त्र है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वतन्त्र स्वभाव से ही अपना कार्य कर रही है। उपादान और निमित्त, दोनों स्वतन्त्र भिन्न वस्तुएँ हैं। जब उपादान अपना कार्य करता है, तब निमित्त उपस्थितमात्र होता है, इतना ही उपादान-निमित्त का मेल है। उसकी जगह किञ्चित्मात्र भी कर्ता-कर्म सम्बन्ध मानना, अज्ञान है। पण्डित बनारसीदासजी ने अपने दोहों में संक्षेप में उपादान-निमित्त का स्वरूप बहुत ही सुन्दररूप से बताया है।

शिष्य का प्रश्न :

गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन।

ज्यों नर दूजे पाँव बिन, चलवे को आधीन ॥ 1 ॥

हो जाने था एक ही, उपादान सों काज।

थकै सहाई पौन बिन, पानी मांहि जहाज ॥ 2 ॥

अर्थ - जैसे, आदमी दूसरे पैर के बिना नहीं चल सकता; उसी प्रकार उपादान अर्थात् आत्मा स्वयं भी सद्गुरु के उपदेश के निमित्त बिना असमर्थ है। जो यह मानते हैं कि मात्र उपादान से ही काम हो जाता है, उनकी मान्यता समीचीन नहीं है। जैसे, पानी में पवन की सहायता के बिना जहाज थक जाता है; उसी प्रकार निमित्त की सहायता के बिना उपादान अकेला कार्य नहीं कर सकता।

इस प्रकार (शिष्य के प्रश्न के रूप में) अज्ञानियों की मान्यता है, जो कि ठीक नहीं है।

दोहा 1 व 2 पर प्रवचन

उपादान-निमित्त के स्वरूप की जिज्ञासावाला शिष्य यह बात पूछता है। निमित्त और उपादान की बात को कुछ ध्यान में रखकर वह पूछता है कि उपादान क्या है और निमित्त क्या है? किन्तु जिसे कुछ खबर ही न हो और जिसे जिज्ञासा ही न हो तो वह क्या पूछेगा?

जिसने निमित्त-उपादान की बात सुनी है किन्तु अभी निर्णय नहीं किया - ऐसा निमित्त का पक्षवाला शिष्य पूछता है कि बिना निमित्त के उपादान अपना कार्य करने में बलहीन है। यदि निमित्त हो तो उपादान काम कर सकता है; गुरु हो तो शिष्य को ज्ञान होता है; सूर्य हो तो कमल खिलता है; दो पैर हों तो आदमी चल सकता है, एक पैर से चलना सम्भव नहीं है, अकेला एक पैर काम नहीं

कर सकता। जब एक पैर को दूसरे पैर की सहायता मिलती है, तब चलने का काम होता है; इसी प्रकार अकेला उपादान काम नहीं कर सकता, किन्तु जब उपादान और निमित्त दोनों एकत्रित होते हैं, तब कार्य होता है।

उपादान का अर्थ है आत्मा की शक्ति। जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट करने में आत्मा की सच्ची समझ, स्वभाव की प्रतीति का होना उपादान है और गुरु का उपदेश निमित्त है। जब उपादान स्वयं कार्यरूप परिणामन करता है, तब जो बाह्य संयोग होता है, वह निमित्त है; इस प्रकार उपादान-निमित्त की व्यवस्था है।

अज्ञानियों का यह तर्क है कि यदि अनुकूल निमित्त नहीं मिलता तो उपादान का काम नहीं बनता और वे तत्सम्बन्धी दृष्टान्त भी देते हैं। इन दोहों में पण्डित बनारसीदासजी ने उन अज्ञानियों की ओर से स्वयं प्रश्न उपस्थित करके उनका उत्तर दिया है। ज्ञानीजन जानते हैं कि अज्ञानियों के क्या-क्या तर्क हो सकते हैं। यह दोहे अत्यन्त उच्च कोटि के हैं; इनमें वस्तुस्वभाव का बल बताया गया है।

अज्ञानी यह मानता है कि कोई निमित्त हो तो उपादान का काम होता है और ज्ञानी यह जानता है कि मात्र वस्तु के स्वभाव से ही कार्य होता है; उसमें निमित्त की न तो कोई सहायता होती है और न कोई असर होता है किन्तु उस समय जो बाह्य संयोग उपस्थित होते हैं, उन्हीं को निमित्त कह दिया जाता है; कार्य तो अकेला उपादान स्वयं ही करता है।

शिष्य का प्रश्न - आप कहते हैं कि मात्र उपादान से ही

काम होता है, यदि यह सच हो तो बिना हवा के जहाज क्यों नहीं चलता? उपादान के होते हुए भी क्या हवा के निमित्त के बिना जहाज चल सकता है? बिना हवा के अच्छे से अच्छा जहाज भी रुककर रह जाता है; इसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश के बिना आत्मारूपी जहाज, मोक्षमार्ग की ओर नहीं चल सकता। सद्गुरु का निमित्त हो तो आत्मारूपी जहाज, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मुक्ति के मार्ग पर चल सकता है; इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त हो तो उपादान काम करता है और निमित्त न हो तो उपादान बलहीन हो जाता है; अकेला आत्मा क्या कर सकता है? यदि सद्गुरु हों तो वे मार्ग बताते हैं और आत्मा उस मार्ग पर चल सकता है। इस प्रकार निमित्त एकत्रित हों तो आत्मा मोक्षमार्ग में चलता है।

निमित्त के उपर्युक्त तर्क का उपादान की ओर से उत्तर देते हुए कहा है कि -

ज्ञान नैन किरिया चरण, दोऊ शिवमग धार।

उपादान निश्चय जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार ॥ 3 ॥

अर्थ - सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञानरूपी दो आँखें और ज्ञान में स्थिरतास्वरूप सम्यक्चारित्र के क्रियारूपी चरण - ये दोनों मोक्षमार्ग को धारण करते हैं। जहाँ ऐसा निश्चयउपादान (मोक्षमार्ग) होता है, वहाँ निमित्तरूप व्यवहार होता ही है।

दोहा 3 पर प्रवचन

सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान और ज्ञान में स्थिरतास्वरूप सम्यक्चारित्र की क्रिया - यह दोनों मोक्षमार्ग को धारण करते हैं। जहाँ उपादानरूप

निश्चय होता है, वहाँ निमित्तरूप व्यवहार होता ही है। अज्ञानी मानते हैं कि सद्गुरु का निमित्त और आत्मा का उपादान मिलकर मोक्षमार्ग है किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि 'ज्ञान नयन किरिया चरण' अर्थात् ज्ञानरूपी नेत्र, मोक्षमार्ग दिखाते हैं और चारित्र उसमें स्थिर होता है; इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं। ज्ञान के कहने पर उसमें श्रद्धा भी आ जाती है। जहाँ ऐसा निश्चय मोक्षमार्ग होता है, वहाँ सद्गुरु का निमित्तरूप व्यवहार होता ही है किन्तु ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो अकेले उपादान से ही होता है।

आत्मा, देहादि परसंयोगों से भिन्न है; दया इत्यादि की शुभभावना और हिंसा इत्यादि की अशुभभावना - ये दोनों विकार हैं; आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पर से और विकार से भिन्न आत्मा के शुद्धस्वरूप की श्रद्धापूर्वक ज्ञान, आत्मा की आँख हैं और पुण्य-पाप के विकार से रहित स्थिरतारूप क्रिया, चारित्र है; इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों मोक्ष के उपाय हैं। पहले ज्ञानरूपी आँखों से मोक्ष के मार्ग को जाने बिना, वह मोक्षमार्ग में कैसे चलेगा? आत्मा के स्वभाव को जाने बिना पुण्य में मोक्षमार्ग मानकर अज्ञानभाव से संसार में ही चक्कर लगायेगा। पहले शुद्धात्मा के ज्ञानपूर्वक मोक्षमार्ग को जाने और फिर उसमें स्थिर हो तो मोक्ष प्राप्त होता है। जब जीव अपने उपादान से ऐसे मोक्षमार्ग को प्रगट करता है, तब सद्गुरु निमित्तरूप होते हैं - यह व्यवहार है।

उपादान अर्थात् निश्चय और निमित्त अर्थात् व्यवहार। उपादान तो स्व है और निमित्त पर है अर्थात् स्व निश्चय है और पर व्यवहार। जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप होता है, वह द्रव्य, कार्य में

निश्चय है और जब स्वयं कार्यरूप हो रहा हो, तब अनुकूल परवस्तु पर 'निमित्त' का आरोप करना व्यवहार है; इस प्रकार निमित्त केवल उपचारमात्र है। इस सम्बन्ध में श्री पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है कि —

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति ।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ 35 ॥

अर्थ - अज्ञानी जीव, (पर से) ज्ञानी नहीं हो सकता; इसी प्रकार ज्ञानी जीव, (पर के द्वारा) अज्ञानी नहीं हो सकता; दूसरे तो निमित्तमात्र होते हैं। जैसे, अपनी शक्ति से चलते हुए जीव और पुद्गलों के लिए धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है; उसी प्रकार जीव स्वयं ज्ञानी अथवा अज्ञानी होता है, उसमें गुरु इत्यादि निमित्तमात्र हैं।

'धर्मास्तिकायवत्' अर्थात् सभी निमित्त धर्मास्तिकाय के समान हैं - इस एक वाक्य में ही निमित्त की उपादान में सर्वथा अकिञ्चित्करता बता दी गयी है।

जैसे, धर्मास्तिकाय सदा सर्वत्र विद्यमान है किन्तु जब जीव और पुद्गल स्वयं गतिरूप परिणमन करते हैं, तब उनके लिए धर्मास्तिकाय पर निमित्त का आरोप आता है और जो जीव-पुद्गल स्थितिरूप होते हैं, उनके लिए धर्मास्तिकाय पर निमित्त का आरोप नहीं होता; इस प्रकार यदि जीव और पुद्गल, गतिरूप परिणमन करें तो धर्मास्तिकाय को निमित्तकारण कहा जा सकता है और यदि गति न करें तो निमित्त नहीं कहा जाता है। धर्मास्तिकाय तो दोनों दशाओं के काल में मौजूद है, वह कहीं जीव-पुद्गलों को चलाता

नहीं है किन्तु यदि जीव-पुद्गल स्वयं गति करते हैं तो मात्र आरोप से उसे निमित्त कहा जाता है; इसी प्रकार समस्त निमित्तों को धर्मास्तिकाय की तरह ही समझना चाहिए।

कमल खिलता है, उसमें सूर्योदय निमित्त है अर्थात् यदि कमल स्वयं खिले तो सूर्योदय पर निमित्तपने का आरोप आता है और यदि कमल न खिले तो सूर्योदय पर निमित्तपने का आरोप नहीं आता। कमल के कार्य में सूर्य ने कुछ भी नहीं किया है, वह तो धर्मास्तिकाय की तरह मात्र उपस्थित होता है।

यथार्थ ज्ञान में गुरु का निमित्त है; अर्थात्, यदि जीव स्वयं यथार्थ वस्तु को समझ ले तो गुरु पर निमित्त का आरोप आता है और यदि जीव स्वयं यथार्थ नहीं समझता तो गुरु को निमित्त नहीं कहा जाता। गुरु किसी के ज्ञान में कुछ करता नहीं है; वह तो मात्र धर्मास्तिकाय की तरह उपस्थित रहता है।

मिट्टी से घड़ा बनता है, उसमें कुम्हार निमित्त है अर्थात् मिट्टी स्वयं घड़े के रूप में परिणमित हो तो कुम्हार पर निमित्त का आरोप होता है और यदि मिट्टी, घड़े के रूप में परिणमित नहीं होती तो कुम्हार निमित्त नहीं कहलाता। मिट्टी के कार्य में कुम्हार कुछ नहीं करता; कुम्हार तो धर्मास्तिकाय की तरह उपस्थितमात्र है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ परवस्तु को निमित्तकारण कहा जाता है, वहाँ सर्वत्र 'धर्मास्तिकायवत्' समझना चाहिए।

पदार्थ का स्वयं कार्यरूप में परिणमित होना, निश्चय है और अन्य पदार्थ में कारणपने का आरोप करके उसे निमित्त कहना, व्यवहार है। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार होता ही है अर्थात्

जहाँ उपादान स्वयं कार्यरूप में परिणमित होता है, वहाँ निमित्तरूप परवस्तु की उपस्थिति अवश्य होती है। उपादान ने अपनी शक्ति से कार्य किया है - ऐसा ज्ञान करना, निश्चयनय है और उस समय उपस्थित रहनेवाली परवस्तु का ज्ञान करना, व्यवहारनय है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञान में चरण अर्थात् लीनतारूप क्रिया, दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। जहाँ उपादानरूप निश्चयकारण होता है, वहाँ निमित्तरूप व्यवहारकारण होता ही है; निमित्त की राह देखकर रुकना पड़े - ऐसी पराधीनता नहीं है।

उपादान, निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है; निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपचार कारण है, सच्चा कारण नहीं है; इसीलिए उसे अकारणवत् कहा है। उसे उपचार (आरोपित) कारण क्यों कहा, जबकि वह उपादान का कुछ कार्य करता ही नहीं? आगम में कार्य के समय उसकी उपस्थिति के कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है। सम्यग्ज्ञान और ज्ञान में लीनता को मोक्षमार्ग जानो - ऐसा कहा। उसी में गर्भितरूप से यह बात भी आ जाती है कि शरीराश्रित उपदेश, उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहार को मोक्षमार्ग मत जानो।

प्रथम प्रश्न का समाधान -

उपादान निजगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।

भेदज्ञान परमाण विधि, विरला बूझे कोय ॥ 4 ॥

अर्थ - जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो, वहाँ परनिमित्त होते ही हैं - ऐसी भेदज्ञान प्रमाण की विधि (व्यवस्था) है। यह

सिद्धान्त कोई विरला ही समझता है।

दोहा 4 पर प्रवचन

जहाँ उपादान की योग्यता हो, वहाँ नियम से निमित्त होता ही है; निमित्त की राह देखना पड़े - ऐसा नहीं है और निमित्त को हम जुटा सकते हैं - ऐसा भी नहीं है। निमित्त की राह देखनी पड़ती है या उसे मैं ला सकता हूँ - ऐसी मान्यता परपदार्थ में अभेदबुद्धि अर्थात् अज्ञान की सूचक है। निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप हैं - यही वस्तुस्थिति की मर्यादा है।

जब उपादान अपनी शक्ति से कार्य करता है, तब वहाँ निमित्त होता है किन्तु वह उपादान में कुछ भी कर नहीं सकता - यह भेदविज्ञान की बात है। स्व और परद्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, एक का दूसरे में नास्तित्व है, तब फिर वह क्या कर सकता है? यदि खरगोश के सींग किसी पर असर कर सकते हों तो निमित्त का असर भी दूसरे पर हो सकता है किन्तु जैसे, खरगोश के सींग का अभाव होने से वह किसी पर असर करे - ऐसा मानना मिथ्या है; उसी प्रकार निमित्त का परद्रव्य में अभाव होने से, निमित्त का कोई असर परद्रव्य में मानना मिथ्यात्व है। इस प्रकार वस्तुस्वभाव का भेदज्ञान किसी विरले सत्य पुरुषार्थी जीव के ही होता है।

ज्ञानी ही उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता को जानते हैं। ज्ञानीजन वस्तुस्वभाव को देखते हैं; इसलिए वे जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु की पर्याय, उस वस्तु के अपने स्वभाव से होती है। वस्तुस्वभाव में ही अपना कार्य करने की शक्ति है, उसे परवस्तु के निमित्त की

आवश्यकता नहीं होती। अज्ञानी वस्तुस्वभाव को नहीं जानते; इसलिए वे संयोग को ही देखते हैं और वस्तु का कार्य स्वतन्त्र नहीं मानकर, उसे संयोगाधीन अर्थात् निमित्ताधीन मानते हैं; इसलिए उनके संयोग की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती और स्व-पर भेदज्ञान नहीं होता।

यहाँ पर उपादान और निमित्त की स्वतन्त्रता बतलाकर भेदज्ञान का उपाय बताते हैं। जगत के बहुत से जीव, उपादान-निमित्त के स्वरूप को समझे बिना, उसकी खिचड़ी पकाया करते हैं। निमित्त में कोई विशेषता है, कभी-कभी निमित्त का असर होता है, कभी-कभी निमित्त की मुख्यता से कार्य होता है; इस प्रकार की सभी मान्यताएँ अज्ञानमूलक हैं।

उपादान ही सर्वत्र बलवान है -

उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दाव।

एक चक्र सों रथ चले, रवि को यहै स्वभाव ॥ 5 ॥

अर्थ - जहाँ देखो वहाँ, सदा उपादान का ही बल है। निमित्त होते हैं परन्तु निमित्त का कुछ भी दाव (बल) नहीं है। जैसे, एक चक्र से सूर्य का रथ चलता है; वैसे ही प्रत्येक कार्य उपादान की योग्यता अर्थात् सामर्थ्य से होता है। निमित्त, उपादान में कुछ भी करता नहीं है।

दोहा 5 पर प्रवचन

जहाँ प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभाव से ही कार्य करती है, वहाँ उसके स्वभाव में परवस्तु क्या कर सकती है? कोई वस्तु,

अन्य वस्तु के भाव में परिणमन नहीं करती। उपादान स्वयं अपने भाव में परिणमन करता है और निमित्त, निमित्त के अपने भाव में परिणमन करता है। अपनी पर्याय का कार्य करने में प्रत्येक वस्तु का उपादान स्वयं ही बलवान है, उसमें निमित्त का कोई कार्य नहीं है। देखो! इसमें दृष्टान्त भी प्राकृतिक वस्तु का दिया गया है। सूर्य के रथ में एक ही चक्र होता है, एक चक्र से ही चलने का सूर्य का स्वभाव है; उसी प्रकार एक स्ववस्तु से ही कार्य करने का वस्तु का स्वभाव है। अपने उपयोग को स्वभाव की ओर बदलने में जीव स्वयं स्वतन्त्र है। इसलिए हे निमित्त के पक्षधर! तुम कहते हो कि 'निमित्त हो तो कार्य हो, और जैसा निमित्त मिलता है, उसी के अनुसार उपादान की पर्याय होती है' - यह बात असत्य है; स्वभाव में परनिमित्त का कोई कार्य ही नहीं।

यदि वस्तु की कोई भी पर्याय निमित्त के कारण होती हो तो क्या उस वस्तु में उस पर्याय के होने की शक्ति नहीं थी? अनादि-अनन्त काल की समस्त पर्यायों का सामर्थ्य वस्तु में विद्यमान है और जबकि वस्तु में ही अनादि-अनन्त पर्यायों की शक्ति है, तब उसमें दूसरे ने क्या कर दिया? अनादि अनन्त पर्यायों में से यदि एक भी पर्याय पर के कारण अथवा पर की मुख्यता के कारण होती है - यह माना जाए तो कहना होगा कि ऐसा माननेवाले ने वस्तु को ही स्वीकार नहीं किया।

भला निमित्त ने किया कैसे? क्या वस्तु में वह पर्याय नहीं थी और निमित्त ने बाहर से लाकर उसे दे दिया? जिस वस्तु में जो

शक्ति न हो, वह दूसरे से नहीं दी जा सकती और जो शक्ति वस्तु में होती है, उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को स्वीकार किये बिना, स्वतन्त्रदशा; अर्थात्, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कदापि प्रगट नहीं होगी।

पहले एक तर्क में कहा था कि क्या आदमी दो पैर के बिना चल सकता है? उसके समाधान में यहाँ कहते हैं कि हाँ, जिसमें चलने की उस प्रकार की शक्ति होती है, वह एक पैर से भी चल सकता है। ९६ अन्तर्द्वीप के मनुष्यों के एक पैर होता है और वे एक ही पैर से चलते हैं; इसी प्रकार आत्मा के अन्तरस्वभाव की शक्ति से निर्मलदशा प्रगट होती है। निर्मलदशा के प्रगट करने में निमित्त का कोई कार्य नहीं है; इतना ही नहीं, किन्तु निमित्त के प्रति लक्ष्य भी नहीं होता। निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, मात्र स्वभाव के लक्ष्य से निर्मलदशा प्रगट होती है।

जड़ को सुख-दुःख नहीं होता। यहाँ तो जीव का प्रयोजन है। जीव में 'उपयोग' है, इस कारण वह अकेला अपने उपयोग को स्व की ओर बदल सकता है। निमित्त की ओर से उपयोग को हटाकर, स्वभाव की ओर उपयोग को करने के लिए उपयोग स्वयं ही समर्थ है। स्वद्रव्य और अनेक प्रकार के परद्रव्य एक साथ उपस्थित हैं, उनमें अपने उपयोग को स्वयं जिस ओर ले जाना चाहे, उस ओर ले जा सकता है। परद्रव्यों के होने पर भी उन सबका लक्ष्य छोड़कर उपयोग को स्वद्रव्य की ओर ला सकता है। इस न्याय में उपयोग की स्वतन्त्रता बताई है और निमित्ताधीन दृष्टि को उड़ा दिया है।

दूसरे प्रश्न का समाधान -

सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन ?

ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन ॥ 6 ॥

अर्थ - प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्रता से अपनी अवस्था को (कार्य को) प्राप्त करती है, वहाँ निमित्त कौन है? जैसे, जहाज, प्रवाह में सहज ही पवन के बिना ही तैरता है।

दोहा 6 पर प्रवचन

जीव और पुद्गलद्रव्य, शुद्ध या अशुद्धअवस्था में स्वतन्त्ररूप से ही अपने परिणाम को करते हैं। अज्ञानी जीव भी स्वतन्त्ररूप से निमित्ताधीन परिणमन करता है; कोई निमित्त उसे आधीन नहीं बना सकता।

इस दोहे में वस्तुस्वभाव को विशेष स्पष्टता से बताया है। 'सधै वस्तु असहाय', अर्थात्, सभी वस्तुएँ स्वतन्त्र हैं; जब एक वस्तु की दूसरी में नास्ति है, तब फिर उसमें निमित्त कौन हो सकता है? एक वस्तु में दूसरी वस्तु को निमित्त कहना व्यवहार है, उपचार है। वस्तुस्वभाव पर से भिन्न स्वतः परिपूर्ण है; वह स्वभाव पर की अपेक्षा नहीं रखता और उस स्वभाव का साधन भी असहाय है। निमित्त, निमित्त में भले रहे, परन्तु उपादान के कार्य में निमित्त कौन है? जब वस्तु के अनन्त गुणों में भी एक गुण दूसरे गुण से असहाय-स्वतन्त्र है, तब फिर एक वस्तु का दूसरी भिन्न वस्तु के साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ स्वभावदृष्टि के बल से कहते हैं कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का निमित्त भी कैसा? निमित्त होता है, उसका ज्ञान गौणरूप में है।

जैसे, वायु की मौजूदगी के बिना जहाज, पानी के प्रवाह में चलता है; उसी प्रकार आत्मा परनिमित्त के लक्ष्य के बिना और पुण्य-पाप के विकार से रहित उपादान के लक्ष्य से स्वभाव में स्थिर हो गया है, उसमें निमित्त कौन है? बाह्य में निमित्त है या नहीं, इसका लक्ष्य नहीं है और अन्तर में शुक्लध्यान की श्रेणी में चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है; एक क्षण में अनन्त पुरुषार्थ प्रगट करके केवलज्ञान प्रगट करता है - ऐसा असहाय वस्तुस्वभाव है। ऐसे आत्मस्वभाव की प्रतीति करके, उसमें स्थिर हो जाने पर बाह्य निमित्त का लक्ष्य नहीं रहता। विकार किसी निमित्त की प्रेरणा से नहीं होता। उपादान स्वयं अपनी पर्याय की योग्यता से विकार करता है तो होता है। सारी वस्तुएँ असहाय हैं और प्रत्येक पर्याय भी असहाय है।

अहो! जिसने ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव प्रतीति में लिया है, वह अपनी निर्मलता के लिए किसका मुँह देखेगा? - ऐसी प्रतीति होने पर वह परमुखापेक्षी नहीं रहता; अर्थात्, मात्र स्वस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता के बल से विकार का क्षय करके अल्प काल में केवलज्ञान प्रगट करता है।

कोई पूछता है कि यदि निमित्त कुछ भी नहीं करता और निमित्त आरोपमात्र है तो फिर शास्त्रों में जो बारम्बार निमित्त से उपदेश पाया जाता है, उसका क्या कारण है? उसका समाधान करते हुए इस अन्तिम दोहे में कहते हैं कि -

उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश।

वसे जु जैसे देश में, धरे सु तैसे भेष ॥ 7 ॥

अर्थ - उपादान का कथन एक 'योग्यता' शब्द के द्वारा ही होता है; उपादान अपनी योग्यता से अनेक प्रकार परिणमन करता है, तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न-भिन्न कारणपने का आरोप (भेष) आता है; इसलिए निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

दोहा 7 पर प्रवचन

उपादान जब जैसे कार्य को करता है, तब वैसे कारणपने का आरोप (भेष) निमित्त पर आता है; जैसे, कोई वज्रकायवान मनुष्य, नरकगति के योग्य मलिनभाव करता है तो वज्रकाय पर नरक का कारणपने का आरोप आता है और यदि वही जीव, मोक्षमार्गरूप निर्मलभाव करता है तो उसी निमित्त पर मोक्षकारणपने का आरोप आता है; इस प्रकार उपादान के कार्यानुसार निमित्त में कारणपने का भिन्न-भिन्न आरोप किया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्त से कार्य नहीं होता, परन्तु कथन होता है; अतः उपादान सच्चा कारण है और निमित्त आरोपित कारण है।

प्रत्येक समय का उपादान स्वतन्त्र होने से वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता। कथन में भेद आये बिना नहीं रहता। कथन में तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए निमित्त के द्वारा कथन करके समझाया जाता है परन्तु जो निमित्त के ही कथन के पीछे लगे रहते हैं और वास्तविक आशय को नहीं पकड़ते, उनका लक्ष्य निमित्त पर ही बना रहता है। **निमित्त के कथन का अर्थ शब्दानुसार नहीं होता, किन्तु उपादान के भाव को ही मुख्य समझकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिए।**

शास्त्रों में कर्मों का जो वर्णन है, वह भी मात्र निमित्त दिखाने के लिए व्यवहार से है; अर्थात्, आत्मा के अनेक प्रकार के भावों को पहिचानने के लिए कर्मों के निमित्त से कथन किया है। वहाँ आत्मा के भावों को पहिचानने का ही प्रयोजन है किन्तु उसकी जगह अज्ञानी का लक्ष्य कर्मों पर ही रहता है। निमित्त की मुख्यता से कथन होता है; निमित्त की मुख्यता से कार्य कभी नहीं होता। जैसा काम किया, उस प्रकार में निमित्त-परवस्तु का ज्ञान कराने के लिए उसे निमित्त कहा है। पूर्व में छठे दोहे में पण्डित बनारसीदासजी ने वजन देकर कहा था कि अरे! असहाय वस्तुभाव में निमित्त है कौन ?

जैसे, एक आदमी अनेक देशों में घूमता है और अनेक प्रकार के भेष धारण करता है किन्तु अनेक प्रकार के भेष धारण करने से कहीं वह आदमी बदल नहीं जाता, आदमी तो वह का वही रहता है; इसी प्रकार आत्मा को पहचानने के लिए अनेक प्रकार के निमित्त से कथन किये गये हैं किन्तु आत्मा तो एक ही प्रकार का है। मात्र 'आत्मा-आत्मा' कहने से आत्मा को नहीं पहिचाना जाता; इसलिए उपदेश में भेद से और निमित्त से उसका ज्ञान कराया जाता है, उसका प्रयोजन मात्र आत्मा के भाव को बताना है; इसलिए निमित्त का और निमित्त की अपेक्षा से होनेवाले भेदों का लक्ष्य छोड़कर, मात्र अभेद उपादान को लक्ष्य में लेना ही सम्यग्दर्शन और मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार उपादान-निमित्त के स्वाधीनस्वरूप को पहचान कर उपादानस्वभाव की ओर ढलना चाहिए।

'उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश' में यह बात है कि प्रत्येक द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् होने से, उपादान को कार्य करने की विधि स्वतः योग्यता - एक ही प्रकार (निर्वचन) है। प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय की स्वतन्त्र योग्यता से ही अपनी योग्यतानुसार कार्य होता है, उसमें कोई भी भेद-विवाद नहीं है और वहाँ कौन निमित्त है - ऐसा ज्ञान कराने के लिये अनेक प्रकार निमित्त/उपचार से उपदेश है परन्तु किसी भी समय निमित्त की मुख्यता से कार्य नहीं होता - यह सर्वत्र नियम है और उसे सम्यग्ज्ञानी ही जान सकते हैं। ●●

कौन मुनिराज को नहीं मानेगा ?

प्रश्न - आप मुनि को मानते हैं ?

उत्तर - भाई! आत्मज्ञानयुक्त सच्चे भावमुनिपने को कौन नहीं मानेगा ? वे तो पञ्च परमेष्ठी में साधु परमेष्ठी हैं, उनके तो हम दासानुदास हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आप मुनि को नहीं मानते; परन्तु भाई! तुम्हें मनवाने का क्या काम है ? अन्तर में सच्चा मुनिपना हो और दूसरे उसे न मानें तो क्या मुनिपना नष्ट हो जाता है ? और यदि अन्तर में सच्चा मुनिपना न हो और दूसरे मुनिपना मानें तो क्या सच्चा मुनिपना आ जाता है ? मुनिपना मनवाने आदि के विकल्प तो कहीं दूर रह गये, परन्तु मुनि को तो व्रतादि के शुभविकल्प आयें, वह भी कर्तव्य नहीं है, सहज है।

(- वचनानामृत प्रवचन, 2/358)

पण्डित बनारसीदास कृत निमित्त-उपादान चिट्ठी

1

उपादान-निमित्त की व्याख्या और उनके प्रकार

पण्डित श्री बनारसीदासजी ने दो चिट्ठियाँ लिखी हैं। एक तो परमार्थवचनिका और दूसरी उपादान-निमित्त की चिट्ठी। परमार्थ-वचनिका में संसारी जीव की तीन अवस्थाएँ - अज्ञानदशा, साधकदशा तथा केवलज्ञानदशा और उनके निश्चय-व्यवहार; आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति अर्थात् संसारमार्ग और मोक्षमार्ग; सम्यग्दृष्टि ज्ञाता के विचार और वह किस प्रकार मोक्षमार्ग साधता है, इसका वर्णन; मिथ्यादृष्टि क्यों मोक्षमार्ग नहीं साध सकता, इसका विवेचन; हेय-ज्ञेय-उपादेय का स्वरूप; ज्ञान और मोक्षमार्ग का स्वावलम्बीपना - इन सबका विशेष स्पष्टीकरण किया है। परमार्थवचनिका वचने के बाद उपादान-निमित्त की यह दूसरी चिट्ठी वाँची जा रही है।

प्रथम ही कोई पूछे कि निमित्त क्या ? उपादान क्या ?

उसका विवरण - निमित्त तो संयोगरूप कारण, उपादान वस्तु की सहजशक्ति।

देखो, अत्यन्त संक्षेप में उपादान-निमित्त की व्याख्या स्पष्ट कर दी है। वस्तु की जो सहजशक्ति है, वह उपादान है और वह उपादान जब अपनी सहजशक्ति से कार्य करता हो, तब जो संयोगरूप कारण हो, वह निमित्त है। उपादान अर्थात् वस्तु की सहजशक्ति - ऐसा कहा; उसमें मात्र त्रिकाली शक्ति ही मत समझना, बल्कि द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही शक्ति, उपादान है और परसंयोग, निमित्त है।

उपादान क्या, निमित्त क्या ? इस प्रकार जिसे इन दोनों के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा जागृत हुई है और उनका स्वरूप पूछता है, उसको यह बात समझाते हैं। उपादान और निमित्त दोनों वस्तुएँ भिन्न-भिन्न; एक स्वभावरूप, दूसरी संयोगरूप है। उपादान-निमित्त के सात दोहों में भी पण्डित बनारसीदास कहते हैं —

उपादान निजगुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।

भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझै कोय॥

भैया भगवतीदासजी भी उपादान-निमित्त के दोहों में कहते हैं —

उपादान निजशक्ति है, जिय को मूल स्वभाव।

है निमित्त परयोगतें, बन्यो अनादि बनाव॥

यहाँ निमित्त को संयोगरूप कहा, तदुपरान्त अन्य प्रकार से अपने में ही गुणभेद कल्पना करके गुणों में परस्पर निमित्तपना

कहेंगे; अर्थात् एक ही द्रव्य के भावों में उपादान और निमित्त दोनों बतायेंगे। जैसे जीव में ज्ञान और चारित्र दोनों गुणों का परिणमन सहकारीपने एकसाथ वर्त रहा है, उसमें चारित्र को उपादानरूप से और ज्ञान को निमित्तरूप से वर्णन करेंगे और उनमें शुद्ध-अशुद्धरूप चौभङ्गी उतारेंगे।

यहाँ प्रथम ही उपादान-निमित्त की व्याख्या करके दो द्रव्यों की भिन्नता बताते हैं। जो वस्तु अपनी सहजशक्ति से कार्यरूप परिणमती है, वह उपादान है और जो वस्तु स्वयं कार्यरूप तो परिणमन नहीं करती किन्तु संयोगरूप होती है, वह निमित्त है। जैसे, मोक्षमार्ग का उपादान शुद्धात्मा स्वयं और बाह्य में देव-गुरु-शास्त्र संयोग, वे निमित्त; घटरूप होने की सहजशक्ति मिट्टी की और कुम्भकार-चक्र इत्यादि संयोग निमित्त - इस प्रकार उपादान और निमित्त दोनों भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एक-दूसरे में कुछ नहीं करती अर्थात् एक-दूसरे को परिणमित नहीं कर सकतीं - यह महासिद्धान्त है।

प्रश्न — उपादान और निमित्त का अर्थ क्या है ?

उत्तर — वस्तु की सहजशक्ति उपादान है, इसमें अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गये। संयोगरूप कारण निमित्त है, वह अपने से भिन्न परवस्तु है।

अपने द्रव्य-गुण-पर्याय, निश्चयकारण है और संयोगरूप कारण, व्यवहारकारण है। व्यवहार कहो या निमित्त कहो, एक ही बात है।

प्रश्न — संयोगी कारण, कार्य में कुछ करते हैं या नहीं ?

उत्तर — कुछ नहीं करते।

प्रश्न — यदि कुछ नहीं करते तो उन्हें कारण क्यों कहा ? कारण तो उसे ही कहते हैं जो कार्य में कुछ करे ?

उत्तर — संयोग को उपचार से कारण कहा है, वह वास्तविक कारण नहीं है। किस कार्य के समय कैसा संयोग होता है - यह बताने के लिए संयोग को भी आरोप से कारण कहा जाता है; वास्तव में वह कार्य में कुछ करता नहीं, कार्य तो उपादान अकेला निज सहजशक्ति से ही करता है।

प्रश्न — यदि अकेले उपादान से ही कार्य होता है तो फिर निमित्त की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर — कार्य के समय उसका अस्तित्व है, मात्र इतना बतलाना है; इसमें आवश्यकता की क्या बात है ? उसकी सहायता की आवश्यकता नहीं है तो क्या जगत में से उसका अस्तित्व ही मिट जाएगा ? कार्य की विशेषता के अनुसार संयोग में कैसी विशेषता होती है - यह बताने के लिए निमित्तों का वर्णन किया है। कार्य में उनका कर्तृत्व बताने के लिए उनको निमित्तकारण नहीं कहा है। निमित्त तो धर्मास्तिकायवत् है। जैसे अपनी सहजशक्ति से गति करते हुए पदार्थों को अर्थात् जीव-पुद्गलों को निमित्तकारण धर्मास्तिकाय है किन्तु वह पदार्थों को गतिकार्य कराता नहीं है, अकर्ता रहता है; उसी प्रकार सभी निमित्तों का अकर्तापना समझ लेना चाहिए।

जब जीव, सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट करे तो वह अपनी सहजशक्ति से ही प्रगट करता है, तब देव-शास्त्रादि

बाह्यसंयोग उसमें निमित्त होते हैं; उसी प्रकार जीव जब राग-विकार भी स्वयं करता है, तब कर्मादि दूसरी चीजों का संयोग निमित्त है। पर्याय अशुद्ध हो या शुद्ध, उसमें भी उसकी कार्यशक्ति है। किसी को लगे कि द्रव्य में ही शक्ति होती होगी, पर्याय में नहीं तो वह बात सही नहीं है। पर्याय में भी उस-उस समय के योग्य कार्य करने की शक्ति है।

अब, उपादान-निमित्त के दो प्रकार कहते हैं —

उसका विवरण-एक द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान, एक पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान।

उसका विवरण-द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान गुणभेदकल्पना, पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान परयोग-कल्पनारूप है।

देखो, यह उपादान-निमित्त की दो शैलियाँ —

(1) एक ही द्रव्य में गुणभेद करके, उसमें उपादान-निमित्त लागू करना - यह द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान है; यहाँ उपादान और निमित्त दोनों अपने आप में ही हैं।

(2) भिन्न-भिन्न द्रव्यों में उपादान-निमित्त लागू करना - यह पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान है, इसमें उपादान स्व है और निमित्त परसंयोग है।

यहाँ द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्य और पर्यायार्थिक अर्थात् पर्याय - ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ तो उपादान-निमित्त दोनों एक ही द्रव्य के आश्रित हों, उसे द्रव्यार्थिक कहा तथा भिन्न-भिन्न द्रव्य के आश्रित हों, उसे पर्यायार्थिक कहा है।●●

2

ज्ञान और चारित्र के दृष्टान्तपूर्वक एक ही द्रव्य में निमित्त-उपादान

अब, प्रथम ही गुणभेद कल्पनारूप चौभङ्गी का विस्तार करता हूँ।

जीवद्रव्य-उसके अनन्त गुण, सर्व गुण असहाय, सदाकाल स्वाधीन; उनमें दो गुणों को प्रधान स्थापित किया, उन पर चौभङ्गी का विचार -

एक तो जीव का ज्ञानगुण और दूसरा जीव का चारित्रगुण; ये दोनों गुण शुद्धरूप जानना, अशुद्धरूप भी जानना; यथायोग्य स्थानक मानना -

इन दोनों की गति न्यारी, शक्ति न्यारी, जाति न्यारी, सत्ता न्यारी-न्यारी।

जगत में अनन्त जीव हैं, प्रत्येक जीव में अनन्त गुण हैं; वे सर्व गुण असहाय हैं; उनके परिणमन में पर की तो सहायता नहीं हैं तथा अपने गुणों में भी परस्पर एक-दूसरे की सहायता नहीं हैं।

दूसरे की सहायता बिना ही प्रत्येक गुण सदा काल स्वाधीनरूप से परिणमन कर रहा है - ऐसी उसकी सहजशक्ति है। जीव के अनन्त गुणों में से यहाँ चौभङ्गी समझाने के लिए ज्ञान और चारित्र, ये दो गुण मुख्य लिये गये हैं। ये दोनों ही गुण शुद्ध तथा अशुद्धपर्यायरूप जानना। इस प्रकार कुल चार भङ्ग हुए -

- (1) ज्ञान की शुद्धपर्याय
- (2) ज्ञान की अशुद्धपर्याय
- (3) चारित्र की शुद्धपर्याय
- (4) चारित्र की अशुद्धपर्याय

इनमें से चारित्र को उपादानरूप और ज्ञान को निमित्तरूप मानकर चौभङ्गी कहेंगे किन्तु इससे प्रथम, इन दोनों गुणों में भिन्नत्व किस प्रकार है - यह बतलाते हैं।

वस्तुरूप से अनन्त गुण अभेद होने पर भी, यहाँ उनमें गुणभेदकल्पना से उपादान-निमित्तपना बतलाते हैं। ज्ञान और चारित्र, इन दोनों की गति न्यायी है; अर्थात्, इन दोनों का परिणमन भिन्न-भिन्न प्रकार का है। दोनों की शक्ति न्यायी है अर्थात् दोनों का कार्य भिन्न है। दोनों की जाति न्यायी है और दोनों की सत्ता भी न्यायी है। द्रव्य-अपेक्षा एक सत्ता, किन्तु गुणा-अपेक्षा से भिन्न-भिन्न सत्ता है; इस तरह दोनों में भिन्नता है। देखो, पर से तो अत्यन्त भिन्नता है ही और अपने में भी एक गुण की दूसरे गुण से भिन्नता है; यद्यपि प्रदेशभेद नहीं है, तथापि गुणभेद है।

अब, ज्ञान और चारित्र की भिन्नता के प्रकारों का विवेचन करते हैं -

‘ज्ञानगुण की तो ज्ञान-अज्ञानरूप गति’; ‘स्वपरप्रकाशक शक्ति’; ‘ज्ञानरूप तथा मिथ्यात्वरूप जाति’, तथा ‘द्रव्यप्रमाण सत्ता’, परन्तु एक विशेष इतना कि ज्ञानरूप जाति का नाश नहीं है; मिथ्यात्वरूप जाति का नाश सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर - यह तो ज्ञानगुण का निर्णय हुआ।

अब, चारित्रगुण का विवरण कहते हैं -

‘संक्लेश-विशुद्धरूप गति’; ‘स्थिरता-अस्थिरता शक्ति’; ‘मन्द-तीव्ररूप जाति’; ‘द्रव्यप्रमाण सत्ता’, परन्तु एक विशेष - मन्दता की स्थिति चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त है, तीव्रता की स्थिति पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त है।

यह तो दोनों का गुणभेद न्यारा-न्यारा किया।

(1) गति - गति अर्थात् परिणति, पर्याय; ज्ञान की गति अर्थात् ज्ञान का परिणमन। इसके दो प्रकार हैं - एक ज्ञानरूप, दूसरा अज्ञानरूप। ज्ञानरूप हो या अज्ञानरूप हो, परन्तु ज्ञानगुण अपने कारण ही परिणमन करता है। चारित्रगुण की गति संक्लेशरूप अथवा विशुद्धरूप है। यहाँ संक्लेश अर्थात् अशुभ तथा विशुद्ध अर्थात् शुभ और शुद्ध दोनों ही समझना। इस प्रकार चारित्रगुण की शक्ति प्रकरण के अनुसार संक्लेश अथवा विशुद्ध परिणमनरूप से परिणमन करने की है।

देखो! ज्ञान का परिणाम, ज्ञानरूप या अज्ञानरूप और चारित्र का परिणाम, संक्लेशरूप या विशुद्धरूप। इसमें जगत के समस्त जीवों के परिणाम समाविष्ट हो गये। जगत के अनन्तानन्त जीवों के ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी जितने भी परिणाम हैं, वे सब इन चार बोलों में समाहित हैं।

(2) शक्ति - ज्ञान की शक्ति तो स्व-परप्रकाशक है। स्व-पर को जाने - ऐसी ज्ञान की शक्ति है; दूसरे का कुछ भी कर सके - ऐसी शक्ति आत्मा के किसी भी गुण या पर्याय में नहीं है। कहा भी है कि 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी।' ज्ञान अपनी सहजशक्ति से स्व-पर को जानता है, उसमें दूसरे की सहायता नहीं है तथा स्थिरता व अस्थिरतारूप भाव, चारित्र की शक्ति है। शक्ति अर्थात् गुण का कार्य। ज्ञान का कार्य, स्व-पर को जानना; चारित्रगुण का कार्य, स्थिरतारूप अथवा अस्थिरतारूप परिणमन करना। अस्थिर परिणतिरूप भी चारित्रगुण अपने उपादानभाव से परिणमन करता है और स्थिरतारूप से भी अपने द्वारा ही परिणमता है - यह उसकी शक्ति है। इस प्रकार ज्ञान-चारित्र की भिन्न-भिन्न शक्ति है।

(3) जाति - ज्ञान के परिणमन का प्रकार सम्यक् रूप अथवा मिथ्यारूप होता है; इसलिए ज्ञान की सम्यक् और मिथ्या - ऐसी दो जातियाँ हैं। सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्याज्ञान की जाति का नाश हो जाता है किन्तु ज्ञान जाति का नाश कभी नहीं होता अर्थात् सम्यग्ज्ञान का नाश नहीं होता अथवा ज्ञान की जाति पलटकर कभी जड़ नहीं हो जाती; ज्ञान की जाति सदा ज्ञानरूप ही रहती है। सम्यग्ज्ञान से पहले, वह जाति मिथ्याज्ञानरूप है और सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञानरूप है। इस प्रकार ज्ञान की सम्यक् और मिथ्या यह दो जातियाँ हैं।

चारित्रगुण के परिणमन में तीव्ररूप अथवा मन्दरूप दो जातियाँ हैं। यहाँ तीव्रता और मन्दता दोष अपेक्षा से समझना; शुद्धता की अपेक्षा से तीव्रता और मन्दता मत समझना, क्योंकि पाँचवें गुणस्थान

तक तीव्रता का अर्थ अकेली तीव्रता ही नहीं समझना, मन्दता भी वहाँ होती है। हाँ, पाँचवें से ऊपर तीव्रता नहीं होती। मन्दता पहले से चौदहवें गुणस्थान तक और तीव्रता पहले से पाँचवें गुणस्थान तक होती है। द्रव्य के समस्त गुण अभी शुद्ध नहीं हुए - इस अपेक्षा से चौदहवें गुणस्थान तक चारित्र की अपूर्णता मानी गयी है; इसलिए वहाँ संसार है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की पूर्णता होने पर, उसी समय मोक्ष कहा है। चारित्र का ऐसा परिणमन अपनी ही शक्ति से होता है; दूसरे गुण के कारण से वह परिणमन नहीं होता। ऐसी स्थिति में कर्म इत्यादि दूसरे द्रव्यों के कारण चारित्र में दोष उत्पन्न होता हो - यह बात तो बहुत दूर चली गयी।

वस्तु का परिणमन सदा काल स्वाधीन है; उसे दूसरे के कारण से मानना मूढ़ता है। निगोददशा से लगाकर चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक चारित्र के परिणमन के जितने प्रकार हैं, वे सब पर से असहायरूप, चारित्रगुण के अपने कारण से ही हैं; चारित्रगुण स्वयं उनका उपादान है।

(4) सत्ता - ज्ञान की सत्ता आत्मद्रव्यप्रमाण है और चारित्र की सत्ता भी आत्मद्रव्यप्रमाण ही है। ये दोनों एक ही द्रव्य के गुण हैं; इसलिए दोनों की सत्ता द्रव्यप्रमाण है। द्रव्य-अपेक्षा दोनों की सत्ता एक है परन्तु गुण-अपेक्षा दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। दोनों के प्रदेश भिन्न नहीं हैं; हाँ, भाव-अपेक्षा से भिन्नता है।

इस प्रकार ज्ञान और चारित्र के गुणभेद जानना चाहिए।

इस प्रकार गति, शक्ति, जाति और सत्ता - यह चार प्रकार बतलाकर ज्ञान और चारित्र की भिन्नता का वर्णन किया। ●●

3

उपादान-निमित्त की स्वाधीनता का विस्तृत विवेचन

अब, उनकी व्यवस्था अर्थात् मर्यादा बताते हैं -

‘ज्ञान, चारित्र के आधीन नहीं, और चारित्र, ज्ञान के आधीन नहीं; दोनों असहायरूप हैं - यह तो मर्यादा बाँधी।’

देखो! एक ही वस्तु में उपादान और निमित्त दोनों किस प्रकार लागू पड़ते हैं? - यह बात ज्ञान और चारित्र का दृष्टान्त देकर यहाँ समझायी गयी है परन्तु इससे पहले इन दोनों गुणों की स्वतन्त्रता की मर्यादा बाँधते हैं। पहले स्वतन्त्रता स्थापित करके पश्चात् ‘दोनों में उपादान-निमित्तपना किस प्रकार है?’ - यह कहेंगे। इस प्रकार सर्वत्र उपादान और निमित्त, इन दोनों की स्वतन्त्रता समझ लेनी चाहिए। दोनों की स्वतन्त्रता स्वीकार किये बिना उपादान-निमित्त का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता - ऐसी ही वस्तु की व्यवस्था है, वस्तु की स्थिति है, वस्तु की मर्यादा है।

ज्ञान, चारित्र के आधीन नहीं है और चारित्र, ज्ञान के आधीन

नहीं है; सर्व गुण असहाय हैं। देखो, यह वस्तुस्वरूप की मर्यादा! एक द्रव्य में त्रिकाल एक साथ रहनेवाले गुण भी एक दूसरे की सहायरहित स्वाधीन हैं तो फिर त्रिकाल भिन्न रहनेवाले पदार्थ एक-दूसरे की सहाय करें - यह बात कहाँ रही? अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करे - यह बात तो वस्तुस्वरूप की मर्यादा के बाहर है। वस्तु स्वाधीनता से परिणमन करती है - यही वस्तुस्वरूप की व्यवस्था है। जिसने इस वस्तुस्वरूप का निर्णय कर लिया, उसकी मति व्यवस्थित है।

प्रवचनसार में आचार्यदेव कहते हैं कि सभी तीर्थङ्कर भगवन्तों के अनुभूत और प्रदर्शित मोक्षमार्ग के दृढ़ निर्णय से एवं स्वयं तद्रूप परिणमन करके मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है। मार्ग के निर्णय में ही जिसकी भूल है, वस्तुस्वरूप में जिसकी भूल है; उसकी मति व्यवस्थित नहीं है किन्तु डाँवाडोल अर्थात् मिथ्या है।

यहाँ एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त बतलाने के लिए ज्ञान और चारित्र, ये दो गुण दृष्टान्तरूप से लिये हैं और इन दोनों को असहाय कहा है।

प्रश्न - दोनों गुणों को असहाय कहा, किन्तु सम्यग्ज्ञान के बिना तो कभी चारित्र होता ही नहीं है - ऐसी स्थिति में चारित्र का परिणमन ज्ञानाधीन हुआ या नहीं?

उत्तर - सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता - यह बात शत-प्रतिशत सही है किन्तु यह तो कौन सा गुण कब परिणमन करता है, इसका भान कराने की बात है। इस कथन का आशय ‘चारित्र का परिणमन ज्ञान के आधीन हो गया’ - ऐसा नहीं है।

द्वितीया के बाद ही पूर्णिमा आती है तो क्या पूर्णिमा का उदय द्वितीया के आधीन हो गया ? उसी प्रकार सम्यक्चारित्र की पर्याय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् ही प्रगट होती है तो क्या वह चारित्रपर्याय, दर्शन-ज्ञान के आधीन हो गयी ? नहीं; उसका परिणमन बिलकुल स्वतन्त्र है ।

किसी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् तुरन्त ही चारित्र की पर्याय विकसित हो जाती है और किसी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भी चारित्र की पर्याय विकसित होने में असंख्यात वर्ष लग जाते हैं; इस प्रकार चारित्र का परिणमन स्वाधीन है ।

रविवार के पश्चात् सोमवार आता है - ऐसा होने पर भी क्या सोमवार, रविवार के आधीन हो गया ? नहीं; यह तो सात वारों के क्रम पहिचानने की बात है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता; सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है, इतनी बात बतलाने के लिये कभी 'चारित्र भी सम्यग्दर्शन के आधीन है' - ऐसा भी कह दिया जाता है परन्तु वह तो गुणों के परिणमन का क्रम बताने के लिये है । कोई जीव सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र लेना चाहे तो उसे गुणों के परिणमनक्रम एवं उनके स्वाधीन परिणमन का बोध नहीं है ।

वस्तु के अनन्त गुणों में से जिसकी मुख्यता से कथन करना हो, उसे उपादान और अन्य को निमित्त कहते हैं । जैसे, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का विचार करें तो इन दोनों की उत्पत्ति तो समकाल में ही है, तथापि उनमें सम्यग्दर्शन को मुख्य करके, उसे तो कारण कहा और सम्यग्ज्ञान को कार्य कहा; वैसे ही वस्तु में अनन्त गुण

एक साथ कार्य कर रहे हैं परन्तु उनमें जब जिस गुण की मुख्यता से कथन करना हो, तब उसको उपादान कहते हैं और दूसरे को निमित्त कहते हैं - ऐसी एक द्रव्य के अन्दर का कथन करने की शैली है ।

जिस प्रकार बाह्य निमित्त तो संयोगरूप परवस्तु है; उसी प्रकार अन्दर के गुणों में परस्पर निमित्तपना है किन्तु वह परवस्तु के समान संयोगरूप नहीं है, वह तो स्ववस्तुरूप है परन्तु गुणभेद कल्पना से मुख्य-गौण करके उसमें उपादान-निमित्तपना घटित करते हैं । मुख्य, सो उपादान और गौण, सो निमित्त । जैसे, मोक्षमार्ग में मुख्य, सो निश्चय अर्थात् वास्तविक मोक्षमार्ग और गौण, सो व्यवहार अर्थात् सच्चा मोक्षमार्ग नहीं; वैसे ही यहाँ कारण में उपादान, सो मुख्य अर्थात् वास्तविक कारण और निमित्त, सो गौण अर्थात् वास्तविक कारण नहीं - ऐसा सिद्धान्त समझना चाहिए ।

इस स्थल पर बाहर के उपादान-निमित्त की चर्चा नहीं है, यहाँ तो अपने में ही उपादान-निमित्त बताने की बात है; अतः उसकी भूमिकारूप में सर्व गुणों का स्वाधीनपना-असहायपना बतलाकर मर्यादा बाँधी है । एक वस्तु में अनन्त गुण हैं परन्तु उनमें कोई किसी के आधीन नहीं है । ज्ञान है, इसलिए श्रद्धा है अथवा श्रद्धा है, इसलिए चारित्र है - ऐसा नहीं है । ज्ञान का कार्य, ज्ञान करता है; श्रद्धान का कार्य, श्रद्धा करती है; आचरण का कार्य, चारित्र करता है - इस प्रकार सभी गुण परस्पर असहाय हैं ।

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, उनमें कोई किसी के कारण नहीं है । जीव है, इसलिए पुद्गल है अथवा पुद्गल है, इसलिए धर्मास्तिकाय

आदि है - ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से है। जीव, जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय से है; अजीव, अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय से है; इस प्रकार सभी द्रव्य परस्पर असहाय हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वसहायी है तथा पर से असहायी है। कोई भी द्रव्य पर की सहायता नहीं लेता तथा पर को सहायता देता भी नहीं। शास्त्र में 'परस्पर अनुग्रह' शब्द आता है परन्तु वह उपचार से है, वह तो उस-उस प्रकार के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिए है। **वस्तुस्वरूप की मर्यादा समझने पर ही उपचार का ज्ञान सच्चा होता है; अन्यथा मिथ्या है। पर से निरपेक्ष और स्व से सापेक्ष - यही वस्तुस्वरूप की मर्यादा है।**

निगोद का जीव ऊँचा उठकर मोक्षमार्ग के साधने की अवस्था तक किस प्रकार आया? - इस प्रश्न के उत्तर में निमित्ताधीन दृष्टिवाला कहेगा कि कर्म का बल मन्द हुआ; इसलिए ऊँचा आया। यहाँ तो कहते हैं कि उसका चारित्रगुण ही अपनी उपादानशक्ति से मन्दकषायरूप परिणमन करके नित्यनिगोदराशि में से निकलकर ऊपर आया है।

जीव, निगोद में अपने भावकलङ्क की प्रचुरता के कारण ही रहा है और अपने चारित्रगुण की वैसी शुभगति के कारण ही ऊपर आया है। दोनों दशाओं में अपना ही स्वतन्त्र उपादान है। अपनी पर्याय के दोष को नहीं देखकर, निमित्त के माथे दोष लगाना तो अज्ञानी की अनीति है और अनेकान्त नीति से (जैन सिद्धान्त से) विरुद्ध है। अनेकान्त नीति (जैन नीति) तो ऐसा कहती है कि तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय की अस्ति में, पर की नास्ति है; अतः निमित्त

किञ्चित्मात्र भी तेरे गुण-दोष का कर्ता नहीं। तीनों कालों में और सर्व पदार्थों का यही सिद्धान्त है। ऐसा कोई काल नहीं कि जड़कर्म, जीव की पर्याय को उत्पन्न करे। निमित्त तो एक तरफ खड़ा है, वह कभी किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। निमित्त तेरा शत्रु या मित्र नहीं है; तू ही विपरीतभाव से अपना शत्रु और सम्यक्भाव से अपना मित्र है। विपरीतभाव से अपनी आत्मा को संसार में निमग्न करनेवाला शत्रु भी तू और सम्यक्भाव से अपनी आत्मा का कल्याण करनेवाला मित्र भी तू ही है।

वाह! कैसी स्वाधीनता!! वस्तुस्वरूप की जो स्वाधीनता है, वही सर्वज्ञदेव ने जानकर प्रसिद्ध की है और वही सन्तों ने घोषित की है। सर्वत्र द्वारा ज्ञात और कथित यह वस्तुस्वरूप की मर्यादा किसी के द्वारा खण्डित नहीं की जा सकती। **समयसार गाथा १०३ में कहते हैं कि 'स खलु अचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेतुमशक्यत्वात् तस्मिन्नेव वर्तेते'** - अर्थात् वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से वस्तु अपने द्रव्य-गुण में ही वर्तती है, अन्य द्रव्य या गुणरूप नहीं होती; इसलिए वह अन्य वस्तु में अथवा उसके गुण-पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकती - यह वस्तु की अचलित मर्यादा है। निगोद से लेकर सिद्धदशा तक प्रत्येक जीव की प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है, उसमें कहीं भी यह मर्यादा नहीं टूटती है।

एक वस्तु के अनेक गुण, जिनमें प्रदेशभेद नहीं है, जब वे भी परस्पर एक-दूसरे के कार्य को नहीं करते तो फिर भिन्न वस्तु या जिनमें अत्यन्त प्रदेशभेद है, वे एक-दूसरे का कार्य करें - यह बात

तो कैसे सम्भव है? अरे जीव! एक बार अपनी स्वाधीनता को तो देख! तुझे अपने स्वाधीन परिणमन की बात जम जाए तो शाबाशी! अर्थात् यदि ऐसे स्वाधीन परिणमन की बात तुझे रुची और जँची तो तेरा परिणमन अन्तर्लक्ष्यी होने लगेगा और अपूर्व सम्यक्दशारूप मोक्षमार्ग प्रगट होगा। अपनी स्वतन्त्रता भी जिसे न रुचे, उससे तो क्या कहें? उसके तो अनादि से उस प्रकार का परिणमन चल ही रहा है। जो स्वरूप की अन्तर्दृष्टि से अपूर्वदशा प्रगट करे, उसकी बलिहारी है।

यहाँ तो गुणभेद से स्वद्रव्य में ही उपादान-निमित्त की बात की है और पर के साथ का सम्बन्ध तोड़ डाला है; पर से अत्यन्त भिन्नता समझाकर स्व का लक्ष्य कराया है। एक ही द्रव्य के आश्रित दो गुण, तथापि एक जानने का कार्य करता है, एक स्थिरता का कार्य करता है; उसी प्रकार एक ही गुण की अनेक पर्यायें, उनमें कोई शुद्ध कोई अशुद्ध – ऐसा ही विचित्र वस्तुस्वरूप है; उसमें दूसरे का कारणपना नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु पर से निरपेक्ष है, असहाय है।

अभी तो जिस जीव को 'पर की सहायता से कार्य करना है' – ऐसी श्रद्धा जमी हुई है, उसे अन्दर का यह असहायपना भला कैसे जमेगा? भाई! तेरे में ही तेरे एक गुण को दूसरे गुण की सहायता नहीं है तो फिर तुझे पर की सहायता कैसी? पराधीनता के भाव से तो तूने अनन्त काल दुःख में गँवाया है; अब स्वाधीनता को तो देख! एक बार तो स्वाधीनता की हवा ले!! तूने अपनी स्वाधीनता की अचिन्त्य महिमा को नहीं जाना है; इसलिए निमित्ताधीन बुद्धि

से यत्र-तत्र तेरा उपयोग भटकता फिरता है। यहाँ सन्त, भ्रमणनाश की और स्वरूप में स्थिर होने की रीति बताते हैं।

शङ्का – आप निमित्त से कार्य होना नहीं मानते; अर्थात्, उसे अकिञ्चित्कर मानते हो, तो हम ऐसा समझते हैं कि आप निमित्त को ही नहीं मानते?

समाधान – भाई! निमित्त को पर में अकिञ्चित्कर मानने में ही निमित्त का निमित्तरूप से सच्चा स्वीकार है। वस्तु जैसी हो, वैसी ही उसे मानना चाहिए या चाहे जैसी अन्यथा मान लेना चाहिए? निमित्त को अकिञ्चित्कर न मानकर, उसे उपादान में किञ्चित् भी कार्यकारी माने तो उसने ही वास्तव में निमित्त को नहीं माना, स्वीकार नहीं किया। जैसे, कुगुरु को मुनिरूप से न मानने पर कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि तुम मुनि को नहीं मानते तो उसकी यह बात मिथ्या है। **मुनि का शुद्ध निर्ग्रन्थ रत्नत्रयमय स्वरूप जैसा हो, वैसा जानना और उससे विरुद्ध कुलिङ्गी को मुनि नहीं मानना, इसमें ही मुनि की सच्ची मान्यता है। जो कुलिङ्गी को भी मुनि मान लेता है, वही वास्तव में मुनि को नहीं मानता।** इसी प्रकार उपादान-निमित्त दोनों का स्वरूप जैसा हो, वैसा जाने; तभी उन दोनों को माना कहा जाता है।

निमित्त की प्रधानता से कथन तो होता है किन्तु कार्य कभी भी निमित्त से नहीं होता। यदि निमित्त ही उपादान का कार्य करने लग जाए तो निमित्त ही स्वयं उपादान बन जाए; अर्थात्, निमित्त, निमित्तस्वरूप से रहे ही नहीं तथा उपादान का स्थान निमित्त द्वारा ले लिया जाने पर निमित्त से अलग कोई उपादान भी नहीं रहे। इस

प्रकार निमित्त से उपादान का कार्य मान लेने पर उपादान और निमित्त दोनों का लोप हो जाता है। इस न्याय को उपादान-निमित्त की तरह निश्चय-व्यवहार में भी घटित कर लेना चाहिए।

यहाँ तो कहते हैं कि उपादान तो कार्यरूप होनेवाली वस्तु की निजशक्ति है और निमित्त, परसंयोग है। उपादान और निमित्त दोनों स्वतन्त्र हैं। प्रमाणानुसार अर्थात् सम्यग्ज्ञान से उपादान-निमित्त की ऐसी स्वतन्त्रता को कोई विरला ही जानता है। जगत का बहुभाग तो 'इससे यह होता है और यह इसका कर्ता है' - ऐसी पराधीन निमित्तदृष्टि में ही अटका हुआ है, वह उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता को जानता ही नहीं। ज्ञानी ही उनकी स्वतन्त्रता को जानकर स्वाश्रितपने मोक्षमार्ग को साधता है किन्तु ऐसे जीव जगत में विरले हैं। पण्डित बनारसीदासजी ४०० वर्ष पहले कहते हैं -

उपादान निजबल जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय।

भेदज्ञान परमाणविधि, विरला बूझै कोय॥

देखो, यह गोम्मटसार सिद्धान्त के अभ्यासी कहते हैं। पण्डित बनारसीदासजी को समयसार, गोम्मटसार आदि का अभ्यास था, उनका यह कथन है। उपादान-निमित्त दोनों को स्वतन्त्र जानने पर ही इन दोनों सम्बन्धी विपरीतमान्यता का विसंवाद मिट सकता है और स्वाश्रय से वीतरागता प्रगट होकर केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है।

अज्ञानी तो सिद्धभगवान को भी पराधीन कहता है। शास्त्र में तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कहा है कि धर्मद्रव्य का अभाव होने से सिद्ध, अलोक में नहीं जाते; वहाँ अज्ञानी ने सिद्ध को भी पराधीन ही मान लिया; अर्थात्, उसने माना कि अलोक में जाने की

शक्ति तो थी परन्तु वह धर्मास्तिकाय के अभाव से अटक गयी। अरे! सिद्ध की बात तो दूर रही, यहाँ तो ठेठ निगोद के जीव का उदाहरण देकर जीव की पर्याय की स्वतन्त्रता बतलाते हैं। सिद्ध की तो बात ही क्या? वे तो परमस्वाधीन हैं।

अरे! सिद्ध को भी पराधीन माननेवाला जीव, स्वयं स्वाधीन कैसे होगा? उसके तो पराधीनदृष्टि की अति तीव्रता है। **जहाँ अन्दर के एक सूक्ष्म विकल्प की आधीनता भी मोक्षमार्ग में नहीं सुहाती, वहाँ सिद्ध को पराधीन माननेवाले को मोक्षमार्ग कैसा?** मोक्षमार्ग तो परम स्वाधीन है, पर से अत्यन्त निरपेक्ष है; ऐसे मोक्षमार्ग को अज्ञानी नहीं जानता।

मोटर के परमाणु पेट्रोल के बिना नहीं चलते - ऐसे अनेक स्थूल दृष्टान्त निमित्ताधीन दृष्टिवाले देते हैं, किन्तु भाई! इन मोटर के परमाणुओं में गमन करने की शक्ति है या नहीं? क्या उन्हें गमनशक्ति पेट्रोल के परमाणुओं ने समर्पित की है? नहीं; एक परमाणु लोक के अधोतम भाग से उच्चतम भाग तक १४ राजू (अर्थात् करोड़ों-अरबों नहीं, बल्कि असंख्यात योजन) एक समय में पहुँच जाता है। यह गति इतनी तेज है कि छद्मस्थ को उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती, तो क्या इन परमाणुओं को पेट्रोल चलाता है? ये परमाणु पेट्रोल बिना चलते हैं या नहीं? यदि चलते हैं तो उन्हीं की तरह ये मोटर के परमाणु भी अपनी गमनशक्ति से पेट्रोल के बिना ही गति कर रहे हैं - ऐसा समझ। यह स्वतन्त्रता की बात '**विरला बूझै कोय**' अर्थात् अज्ञानी को समझना कठिन है क्योंकि उसने सर्वज्ञकथित द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप नहीं जाना है।

यहाँ जीव के उपादान-निमित्त का प्रकरण है परन्तु पुद्गल में भी उपादान की स्वतन्त्रता समझ लेना। एक पुद्गल में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि अनन्त गुण; सबमें स्पर्शगुण समान; तथापि किसी में रुक्षता, किसी में स्निग्धता; किसी में दो अंश, किसी में अनन्त अंश; इस प्रकार अनन्त प्रकार की विविधतारूप उनका स्वतन्त्र परिणमन है। चार अंशवाले और दो अंशवाले - ऐसे दो परमाणु जहाँ स्कन्धरूप हों, वहाँ दोनों चार अंशरूप एक से हो जाते हैं, फिर भी चार अंशवाला परमाणु, दो अंशवाले को चार अंशरूप से नहीं परिणमाता। चार अंशवाला परिणमक और दो अंशवाला परिणम्य - ऐसा कथन अवश्य किया जाता है परन्तु वास्तव में तो स्कन्ध होने के समय वे दोनों परमाणु चार अंशरूप से परिणमित हुए ही होते हैं, तभी स्कन्ध बनता है। एक चार अंशरूप और दूसरा दो अंशरूप रहे, तब तक उनका स्कन्ध नहीं बनता अर्थात् स्कन्ध होने में भी दोनों परमाणुओं का स्वतन्त्र ही परिणमन है। ऐसी स्वतन्त्रता जगत के सभी द्रव्यों में है।

दो भिन्न द्रव्यों में उपादान-निमित्त घटित करना, पर्यायार्थिकदृष्टि का उपादान-निमित्त है और एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त, द्रव्यार्थिक उपादान-निमित्त है। उनमें से यहाँ द्रव्यार्थिक उपादान-निमित्त की बात समझाते हुए आत्मा के ज्ञान और चारित्र को दृष्टान्तरूप में लिया है। एक द्रव्य में अनन्त गुण सहवर्ती है, वे सभी असहाय हैं, एक-दूसरे के आधीन नहीं हैं।

प्रश्न - जाने हुए का ही श्रद्धान होता है; अनजाने का श्रद्धान तो गधे के सींगवत् असत् है - ऐसा कहा है तो क्या वहाँ श्रद्धागुण का परिणमन ज्ञान के आधीन नहीं हुआ ?

उत्तर - नहीं; आत्मा के स्व-संवेदनज्ञान बिना कोई कहे कि मुझे सम्यग्दर्शन हो गया है तो यह बात झूठी है; इसलिए कहा है कि जाने हुए का ही श्रद्धान होता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रद्धागुण, ज्ञानगुण के आधीन है क्योंकि श्रद्धा करने का काम ज्ञानगुण नहीं करता; ज्ञानगुण तो जानने का ही कार्य करता है, जबकि श्रद्धागुण, श्रद्धान करने का कार्य करता है। दोनों ही गुण अपना-अपना भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं; कोई गुण किसी के आधीन नहीं है। यद्यपि दो गुणों का निर्मलकार्य एक साथ एक समय में होता हुआ दिखाई देता है, तथापि कोई किसी के आधीन नहीं है।

प्रश्न - क्षायिकसम्यक्त्व तो केवली-श्रुतकेवली की समीपता के बिना प्राप्त होता ही नहीं तो फिर वह असहाय किस प्रकार रहा ?

उत्तर - केवली-श्रुतकेवली के समीप में जिनको क्षायिकसम्यक्त्व होता है, वह भी स्वसहाय से ही होता है; पर की सहायता से नहीं, फिर केवली-श्रुतकेवली के समीप तो बहुत से सम्यक्त्वी जीव होते हैं परन्तु उन सबको क्षायिकसम्यक्त्व क्यों नहीं हो जाता ? क्योंकि उनकी श्रद्धा में वैसा उपादान जागृत नहीं हुआ। जिनको क्षायिकसम्यक्त्व होता है, उनको पर की सहायता के बिना ही, अपने जैसे उपादान का अवलम्बन करके ही होता है, उनका अपना श्रद्धागुण ही जैसे क्षायिकभाव से परिणमन करता है।

दूसरी बात, तीर्थङ्कर आदि दूसरे जीव, केवली-श्रुतकेवली की समीपता के बिना भी क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, उसमें पर की सहायता नहीं है। जहाँ केवली-श्रुतकेवली की समीपता का नियम कहा, वह तो जहाँ केवलज्ञान तथा श्रुतकेवलज्ञान की

उत्पत्ति की योग्यता नहीं है, वहाँ क्षायिकसम्यक्त्व की भी योग्यता नहीं है – यह बताने के लिए ही क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति में केवली-श्रुतकेवली की समीपता का नियम कहा है। भरतक्षेत्र में जब केवलज्ञान और श्रुतकेवलज्ञान का विच्छेद हुआ, तब क्षायिकसम्यक्त्व का भी विच्छेद हो गया।

मनुष्य के अतिरिक्त देवादि के जीव, केवली की समीपता मिलने पर भी क्षायिकसम्यक्त्व उपलब्ध नहीं कर सकते, क्योंकि उनका उपादान ही उस प्रकार का नहीं है। इन तीनों गतियों में अर्थात् नरक-तिर्यञ्च व देवगति में केवलज्ञान, श्रुतकेवलज्ञान तथा क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इन जीवों के ऐसी योग्यतावाले परिणामों का अभाव है। इस प्रकार सर्वत्र उपादान के द्वारा स्वसहायपने ही कार्य की उत्पत्ति का अबाधित नियम है। ●●

जिसे मुनिराज के प्रति बहुमान नहीं, वह मिथ्यादृष्टि

जैसे पिता को देखते ही पुत्र को हर्ष होता है; उसी प्रकार अपने धर्मपिता को देखते ही धर्मात्मा के मन में हर्ष होता है। जिसको स्वप्न में भी ऐसे दिगम्बर सन्त के दर्शन के प्रति अरुचि का भाव आता है, वह जीव पापी है। अरे! देवता भी जिनके चरणों में नमते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महान सन्त भी जिनके लिये धन्य-धन्य कहते हैं – ऐसे दिगम्बर सन्त-मुनियों के प्रति जिस जीव को प्रमोद-भक्ति-बहुमान नहीं आता, वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

(अष्टपाहुड़ प्रवचन, 185)

4

उपादान-निमित्त सम्बन्धी चौभङ्गी : प्रत्येक की स्वतन्त्रता

भिन्न-भिन्न द्रव्यों के उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता भी अभी लोगों को जँचना कठिन पड़ती है, पर यहाँ तो अन्दर के उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता की सूक्ष्म चर्चा है। जहाँ अतीन्द्रियज्ञान हो, वहीं अतीन्द्रियसुख होता है; अतीन्द्रियज्ञान के बिना, अतीन्द्रियसुख नहीं होता – यह नियम है, तथापि दोनों स्वतन्त्र हैं। सुखगुण का कार्य, ज्ञानगुण ने नहीं किया और ज्ञानगुण का कार्य, सुखगुण ने नहीं किया; दोनों ने ही अपना-अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से किया है।

बाहर के पदार्थों में उपादान-निमित्त की भिन्नता की बात तो अनेक बार अनेक दृष्टान्तों से कही जा चुकी है; अतः उस सम्बन्धी विशेष दृष्टान्त यहाँ नहीं दिये हैं। यहाँ तो एक ही वस्तु में गुणभेद की कल्पना द्वारा उपादान-निमित्त किस प्रकार है? – उसकी चौभङ्गी, चारित्र और ज्ञान के दृष्टान्त से समझाते हैं। उसमें प्रथम

तो यह मर्यादा बाँधी कि यह दोनों गुण असहाय हैं; कोई किसी के आधीन नहीं है।

अब, उसमें चौभङ्गी का विचार : यहाँ ज्ञानगुण, निमित्तरूप और चारित्रगुण, उपादानरूप - यह विवक्षा लेना। उसके चार प्रकार इस भाँति हैं -

- (1) अशुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान।
- (2) अशुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान।
- (3) शुद्ध निमित्त, अशुद्ध उपादान।
- (4) शुद्ध निमित्त, शुद्ध उपादान।

यहाँ सूक्ष्मदृष्टिपूर्वक द्रव्य की एक समय की अवस्था लेना; समुच्चयरूप मिथ्यात्व-सम्यक्त्व की बात नहीं चलाना। किसी समय जीव की अवस्था इस प्रकार की होती है कि -

- (1) अज्ञानरूप ज्ञान और संक्लेशरूप चारित्र।
- (2) अज्ञानरूप ज्ञान और विशुद्धरूप चारित्र।
- (3) ज्ञानरूप ज्ञान और संक्लेशरूप चारित्र।
- (4) ज्ञानरूप ज्ञान और विशुद्धरूप चारित्र।

(1) जिस समय ज्ञान की अज्ञानरूप गति और चारित्र की संक्लेशरूप गति, उस समय निमित्त और उपादान दोनों अशुद्ध। (2) जिस समय अज्ञानरूप ज्ञान और विशुद्धरूप चारित्र, उस समय अशुद्ध निमित्त और शुद्ध उपादान। (3) जिस समय ज्ञानरूप ज्ञान और संक्लेशरूप चारित्र, उस समय

शुद्ध निमित्त और अशुद्ध उपादान। (4) जिस समय ज्ञानरूप ज्ञान और विशुद्धरूप चारित्र, उस समय शुद्ध निमित्त और शुद्ध उपादान।

इस प्रकार जीव की अन्य-अन्य दशा सदा काल अनादिरूप है।

यहाँ जो चार प्रकार कहे, वे चारों प्रकार अज्ञानी के भी हो सकते हैं। यहाँ ज्ञान का जानपना कहा, वह कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञान में तत्त्वविचार के योग्य जो क्षमता हुई है, उघाड़ हुआ है, उसकी बात है और चारित्र में विशुद्धि कही, वह कहीं मोक्षमार्ग के शुद्धपरिणाम की बात नहीं है किन्तु मन्दकषाय की बात है। तत्त्वविचार के योग्य ज्ञान का उघाड़ और कषाय की मन्दतारूप विशुद्धि तक तो जीव अनेक बार आ गया, किन्तु वहाँ से आगे बढ़कर जब ग्रन्थिभेद करे अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तब ही उसको मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

(1) निगोदादि के जीवों का ज्ञान इतना हीन हो गया है कि उनमें तत्त्वविचार की शक्ति ही नहीं है, ज्ञान का क्षयोपशम ही वैसा नहीं है; इसलिए उनका निमित्त अशुद्ध है और उपादानरूप चारित्र की पर्याय में भी तीव्र संक्लेशपरिणामरूप अशुद्धता है - ऐसी उपादान की अशुद्धता के कारण ही वे जीव निगोद से निकलकर ऊपर नहीं आते। भावकलङ्क सुपउरा नियोगवासंण मुंचेदि - अर्थात् भावकलङ्क की प्रचुरता के कारण वे जीव, निगोदवास को नहीं छोड़ते। ऐसे जीवों का उपादान अशुद्ध और निमित्त भी अशुद्ध; चारित्र और ज्ञान दोनों अशुद्ध हैं।

(2) निगोदवासी जीव, जिसको तत्त्वविचार करने योग्य भी ज्ञान का उघाड़ नहीं है, वह भी कदाचित् अपने उपादान से चारित्र में मन्दकषायरूप विशुद्धि के बल से वहाँ से निकलकर मनुष्य होता है। ऐसे जीव की ज्ञान की गति अशुद्ध कही जाती है और चारित्र में मन्दताकषायरूप विशुद्धता कही जाती है। 'निमित्त अशुद्ध और उपादान शुद्ध' - ऐसा दूसरा प्रकार यहाँ लागू पड़ता है। इस दृष्टान्त के अनुसार अन्य भी जिन-जिन जीवों पर यह प्रकार लागू पड़े, वह समझ लेना चाहिए।

अहो! जीव के परिणामों की स्वतन्त्रता तो देखो! अनादि से निगोद में रहनेवाला जीव, जिसको कोई बाह्यसाधन उपलब्ध नहीं, पाँच इन्द्रियाँ नहीं, ज्ञान में विचारशक्ति भी नहीं; तथापि अपने चारित्रगुण के उपादान के बल से मन्दकषाय करके शुभपरिणाम द्वारा वहाँ से निकलकर मनुष्यभव प्राप्त कर लेता है।

(3) तीसरे प्रकार के जीव ऐसे हैं, जिनको तत्त्वविचार की शक्ति के योग्य ज्ञान का उघाड़ तो हुआ, परन्तु परिणाम संक्लेशरूप ही वर्तते हैं, पापविचार में ही पड़े हैं; आत्महित का विचार करने योग्य विशुद्धपरिणाम करते ही नहीं - ऐसे जीवों का 'निमित्त शुद्ध और उपादान अशुद्ध' है।

(4) जिसके ज्ञान में तत्त्वविचार की शक्ति प्रगटी है तथा जिसने परिणाम को भी विशुद्ध करके तत्त्वविचार में जोड़ा है, उसके ज्ञान और चारित्र दोनों विशुद्ध हैं अर्थात् निमित्त और उपादान दोनों शुद्ध हैं। यह विशुद्धि मोक्षमार्ग नहीं है।

इतनी विशुद्धि तक आने के पश्चात् भी क्या करे, तब मोक्षमार्ग

प्रारम्भ हो - यह आगे कहेंगे। 'सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण की कणिका जागे, तब मोक्षमार्ग साँचा' - ऐसा परमार्थ-वचनिका में कहा था, वही सिद्धान्त यहाँ भी समझायेंगे।

ज्ञानपनेरूप उघाड़ को ज्ञान की शुद्धता कहा, विशुद्धरूप परिणाम (मन्दकषायरूप परिणाम या अकषायरूप परिणाम) को चारित्र की शुद्धता कहा; अज्ञानरूप परिणाम को ज्ञान की अशुद्धता कहा, संक्लेशरूप परिणाम को चारित्र की अशुद्धता कहा। यहाँ चारित्रपरिणाम को उपादान और ज्ञानपरिणाम को निमित्त स्थापित करके उपादान-निमित्त की शुद्धता-अशुद्धता सम्बन्धी चार भङ्ग कहे। ये चारों ही प्रकार आत्मा में ही घटित होते हैं, समाते हैं; अतः उन सम्बन्धी विशेष विचार आगे करते हैं। ●●

धर्म की मूर्ति निर्ग्रन्थ सन्त

मुनि के परिग्रह में वस्त्र का तार भी नहीं होता। अन्तर-बाह्य निर्ग्रन्थदशावाले भावलिङ्गी सन्त तो धर्म की मूर्ति हैं। जिसे ऐसी धर्म की मूर्ति को देखकर उनका बहुमान नहीं आता, उसको धर्म की श्रद्धा ही नहीं है; वह तो कुधर्म को माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। जो लोग महा दिगम्बर सन्त (श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव आदि) के प्रति मत्सरभाव से वर्तते हैं, वहाँ समझना कि वे मिथ्यादृष्टि हैं, उनको वीतराग मार्ग का प्रेम नहीं है। जिसको धर्म का प्रेम हो, उसको धर्म की मूर्ति - वीतरागी मुनिराज को देखकर प्रमोद आये बिना नहीं रहता। जिसको ऐसा प्रेम नहीं आता, उल्टे द्वेष आता है, वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव हैं।

(अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ 184-185)

5

ज्ञान और चारित्र में गर्भित शुद्धता, किन्तु ग्रन्थिभेद के बिना उसकी निष्फलता

‘मिथ्यात्व अवस्था में किसी समय जीव का ज्ञानगुण जानरूप होय, तब वह कैसा जानता है? वह ऐसा जानता है कि लक्ष्मी, पुत्र, स्त्री इत्यादि प्रत्यक्षप्रमाणरूप मुझसे भिन्न हैं; मैं मर जाऊँगा और ये सब यहीं पड़े रहेंगे अथवा ये सब जाएँगे और मैं पड़ा रहूँगा; किसी समय इन सबसे मेरा एक दिन वियोग है - ऐसा जानपना मिथ्यादृष्टि के होता है, वह शुद्धता कही जाती है परन्तु यह सम्यक्शुद्धता नहीं है; गर्भित शुद्धता है। जब वस्तु का स्वरूप जाने, तब सम्यक्शुद्धता है और वह ग्रन्थिभेद बिना होती नहीं, परन्तु गर्भितशुद्धता से भी अकाम निर्जरा है।’

प्रथम ही ज्ञान के परिणाम में शुद्ध और अशुद्ध - यह दो प्रकार बताते हैं, पश्चात् चारित्र के दो प्रकार बतायेंगे, तत्पश्चात् मोक्षमार्ग कब होता है, वह बतायेंगे।

यहाँ तत्त्व के विचार करने योग्य ज्ञानशक्ति जिसके विकसित

हुई है - ऐसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव की बात है। ज्ञान में सामान्य जानपना तो एकेन्द्रियादि सर्व जीवों के होता है परन्तु यहाँ तत्त्वविचार के योग्य जानपना विवक्षित है। इससे पहले का जितना भी जानपना है, वह जीव को हित का साधन नहीं है। यदि जानपने से तत्त्वविचार में आगे बढ़े तो हित का साधन हो - यह बात यहाँ बतला रहे हैं। ऐसी ज्ञानशक्ति जिसको विकसित हुई है, वह जीव कदाचित् देहादि से अपनी भिन्नता का विचार करता है कि यह देह, स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी आदि तो मेरे से भिन्न हैं और एक बार इनका वियोग हो जाएगा - ऐसी भिन्नता का विचार होने पर परिणाम में उस प्रकार की विशुद्धता होती है। संक्लेशपरिणाम के समय ऐसे वैराग्य के तत्त्वविचार नहीं चलते। ज्ञान में ऐसी विचारशक्ति जागृत होना ही ज्ञान की शुद्धता कही जाती है परन्तु यह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; जब इससे आगे बढ़कर स्वानुभव से ग्रन्थिभेद करे अर्थात् सम्यग्ज्ञान की कणिका जगावे, तब मोक्षमार्ग होता है। यहाँ तक ज्ञान में गर्भितशुद्धता होने पर भी उसको मोक्षमार्ग नहीं कहते। गर्भितशुद्धता, सच्ची शुद्धता नहीं है; जो स्वानुभव होने पर प्रगट हो, वही सच्ची शुद्धता है और वही मोक्षमार्ग है।

देखो! गर्भितशुद्धता में इतनी विशेषता हुई कि पहले (निगोदादि में) जो मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अवकाश ही नहीं था, वह अब यदि तत्त्वविचार में आगे बढ़े तो ग्रन्थिभेद होकर मोक्षमार्ग प्राप्ति का अवकाश हाथ में है, फिर भी जिसको गर्भितशुद्धता हुई, उसको ऐसी शुद्धता हो ही जाए - ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, जो ग्रन्थिभेद करे, उसे ऐसी सम्यक्शुद्धता हो और जो न करे, उसे

न हो। जैसे, बन्ध्या स्त्री को तो पुत्र प्राप्ति का अवकाश ही नहीं है किन्तु जिसके गर्भ में बालक है, उसको पुत्रजन्म का अवकाश है परन्तु वह जन्म लेवे तभी न? गर्भकाल में ही आयु पूर्ण हो जाए तो न भी जन्में; वैसे ही गर्भितशुद्धता भी समझना। जिनको गर्भितशुद्धता नहीं है, उन असंज्ञी तक के जीवों को तो मोक्षमार्ग का अवकाश ही नहीं है। जिनको ज्ञान का उघाड़ हुआ और तत्त्वविचार तक आये, उनको गर्भितशुद्धता होने पर मोक्षमार्ग का अवकाश हुआ, परन्तु वे ग्रन्थिभेद करके मोक्षमार्ग प्रगट करें, तब न? यदि वहाँ ही अर्थात् मन्दकषाय में अटक जाएँ और ग्रन्थिभेद न करें तो अमुक काल में गर्भितशुद्धता भी छूट जाएगी और पुनः निगोदादि में दुःख उठायेंगे।

इस प्रकार यह ग्रन्थिभेद, मोक्षमार्ग की मूल कुञ्जी है। हे जीव! तू विशुद्धपरिणाम से ऊँचा उठा है, तुझे तत्त्वविचार करने योग्य ज्ञानशक्ति प्राप्त हुई है, ग्रन्थिभेद करके मोक्षमार्ग साधने का यह दुर्लभ अवसर उपलब्ध हुआ है; इसलिए तू उसका उद्यम कर और ग्रन्थिभेद से सम्यग्ज्ञान तथा स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट कर, इसमें अपूर्वता है; इसके बिना गर्भितशुद्धता कोई अपूर्व नहीं है, उससे मोक्षमार्ग का प्रयोजन नहीं सधता।

ज्ञान में जो जानपनारूप गर्भितशुद्धता है, वह यद्यपि मिथ्यात्व अवस्था में मोक्षमार्गरूप नहीं है, तथापि उसमें जो जानपना है, वह सामान्यपने ज्ञान की जाति है और उससे थोड़ी अकामनिर्जरा भी होती है, फिर भी उसी समय मिथ्यात्व के कारण विशेष बन्ध होता है। बन्ध विशेष और निर्जरा अल्प; अतः अल्प की उपेक्षा करके

‘मिथ्यात्व अवस्था में अकेला बन्ध ही होता है’ – ऐसा कहा, परन्तु ज्ञान के जो अंश उघाड़रूप हैं, वे स्वयं कहीं बन्ध के कारण नहीं हैं। यदि ग्रन्थिभेद करके आगे बढ़े तो वे ही ज्ञानांश, केवलज्ञान में जाकर मिल जाते हैं।

जीव, अनन्त बार ज्ञान के उघाड़ और शुभराग के आँगन तक आकर अटक गया, किन्तु राग से पार चैतन्यवस्तु के स्वानुभव से मिथ्यात्व की ग्रन्थि नहीं भेदी; इसलिए मोक्षमार्ग में नहीं आया और संसार में ही रहा। ऐसा उघाड़ अर्थात् गर्भितशुद्धता तो मिथ्यादृष्टि के भी होती है, उसमें कोई अपूर्वता नहीं है। सम्यग्दर्शन से सम्यक्शुद्धता करके मोक्षमार्ग प्रगट करे – यही अपूर्वता है अर्थात् करने योग्य है।

निगोद से ऊँचा चढ़कर जीव, गर्भितशुद्धता तक आया, वह भी अपने ज्ञान-चारित्रगुण के परिणाम की शक्ति से आया है; कर्म का जोर मन्द पड़ गया, इसलिए ऊँचा आया है – ऐसा नहीं है किन्तु यह जीव अपने ही उस प्रकार के स्वतन्त्र परिणमन से ऊँचा आया है – ऐसा तू निश्चित जान। अब, यदि ग्रन्थिभेद के बल से स्वाश्रयपूर्वक ज्ञान-चारित्रपरिणाम की धारा आगे बढ़े तो केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है। ज्ञानगुण का परिणमन बढ़कर, केवलज्ञान और चारित्रगुण का परिणमन बढ़कर, यथाख्यातचारित्र होता है; इस तरह दोनों गुणों का परिणमन स्वतन्त्र है।

इस प्रकार प्रथम बोल में ज्ञान की शुद्धता कही।

अब, द्वितीय बोल ज्ञान की अशुद्धता अर्थात् ज्ञान की अज्ञानरूप दशा को कहते हैं। ‘किसी समय उस जीव का ज्ञानगुण,

अज्ञानरूप है, गहलरूप है, उससे केवल बन्ध है।' निगोद से लगाकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों को तो विचारशक्ति ही नहीं है, उनके अज्ञान की विशेष तीव्रता है, वे मोह में मूर्च्छित हो गये हैं। पञ्चेन्द्रिय होकर भी जिस जीव को हिताहित का किञ्चित् भी विचार नहीं है, उसकी अवस्था भी अज्ञानरूप समझना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान के दो बोल कहे।

अब, चारित्र के दो बोल कहते हैं -

‘मिथ्यात्व अवस्था में किसी समय चारित्रगुण विशुद्धरूप होता है, उससे चारित्रावरण कर्म मन्द होता है, मन्दता के कारण निर्जरा है तथा किसी समय चारित्रगुण संक्लेशरूप होता है, उससे केवल तीव्रबन्ध होता है।’

मिथ्यात्व अवस्था में निगोद के जीव को भी चारित्रगुण में किसी समय शुभपरिणाम होता है। वहाँ ज्ञान का तो ऐसा कुछ विशेष विकास नहीं है, तथापि चारित्रगुण स्वतन्त्रतया वैसी विशुद्धिरूप परिणमन करता है। चारित्र का परिणमन, ज्ञान के आधीन नहीं है। जब ज्ञान में जानपनारूप विशुद्धि न हो, तब उसके कारण से चारित्र में भी शुभपरिणामरूप विशुद्धि न हो सके - ऐसा नहीं है। अज्ञानरूप ज्ञान हो, उससे चारित्र में भी अशुभपरिणाम ही हों अथवा जानरूप ज्ञान हो, उससे चारित्र में भी विशुद्धपरिणाम ही हों - ऐसा कोई नियम नहीं है। अज्ञानरूप ज्ञान होने पर भी विशुद्धिरूप चारित्र और जानरूप ज्ञान होने पर भी संक्लेशरूप चारित्र - इस प्रकार चारों भङ्ग सम्भव हैं। इसमें जीव के परिणामों की अत्यन्त स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।

यहाँ चारित्र में शुभभाव को विशुद्धि कहा, इसलिए वह धर्म हो गया - ऐसा मत समझ लेना। ग्रन्थिभेद होने पर ही ज्ञान और चारित्र दोनों में धर्म को अङ्कुर फूटता है और तभी मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। इसके बिना धर्म के लिए सब व्यर्थ है - यह मूल सिद्धान्त लक्ष्य में रखकर ही सारी बातें समझना है। ●●

यथानुकूल व्यवहारवाले भावलिङ्गी सन्त...

जो सम्यग्दर्शनादि सहित होते हैं, शीलवान होते हैं, देवों से भी जो वन्दित होते हैं - ऐसे भावलिङ्गी सन्त जिनेश्वरदेव के यथाजातरूप के धारक हैं।

अहो! अभी तो इस भरतक्षेत्र में भावलिङ्गी सन्त-मुनिराज के दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। यथानुकूल व्यवहारवाले भावलिङ्गी सन्त को देखकर धर्मी को ऐसा भाव होता है कि अहो! धन्य आपका अवतार! धन्य हूँ मैं कि आपके दर्शन हुए। धन्य आपकी मुनिदशा!! जिस जीव को इस प्रकार विनय-नम्रता का भाव नहीं आता और गौरव करता है, अभिमान से वर्तता है तो वह जीव सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि है।

(अष्टपाहुड़ प्रवचन, 184)

6

उपादान की स्वतन्त्रता

अब, निगोद के जीव को भी मन्दकषाय से कुछ निर्जरा होती है - यह बतलाते हैं।

‘मिथ्यात्व अवस्था में जिस समय ज्ञानरूप ज्ञान है और विशुद्धतारूप चारित्र है, उस समय निर्जरा है। जिस समय अज्ञानरूप ज्ञान है और संक्लेशरूप चारित्र है, उस समय बन्ध है। उसमें विशेष इतना कि अल्प निर्जरा और विशेष बन्ध होता है; इसलिए उस अल्प निर्जरा की उपेक्षा करके मिथ्यात्व अवस्था में केवल बन्ध कहा। जैसे, किसी पुरुष को नफा थोड़ा और हानि विशेष हो तो वह पुरुष हानिवाला ही कहा जाता है परन्तु बन्ध और निर्जरा रहित किसी अवस्था में जीव होता नहीं। दृष्टान्त इस प्रकार कि विशुद्धता से निर्जरा न होती तो एकेन्द्रिय जीव, निगोद अवस्था में से व्यवहारराशि में किसके बल से आता है? वहाँ तो ज्ञानगुण, अज्ञानरूप-गहलरूप है, अबुद्धरूप है; इसलिए ज्ञानगुण का तो बल नहीं है। विशुद्धरूप चारित्र के बल से जीव,

व्यवहारराशि में चढ़ता है। जीवद्रव्य में कषाय की मन्दता होती है, उससे निर्जरा होती है; उसी मन्दता के प्रमाण में शुद्धता जानना।’

निगोद का जीव, वहाँ से निकलकर मनुष्य हो जाता है, वह किस परिणाम के बल से होता है? - यह बतलाकर उसके दृष्टान्त से जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता बतलायी है। निगोद के जीव को ज्ञान का विशेष बल है नहीं और वहाँ कोई तत्त्वविचार भी नहीं है, तथापि चारित्रपरिणाम में उस प्रकार की विशुद्धता के बल से वह जीव ऊँचा चढ़ा है। कषाय की मन्दता के बल से उस प्रकार की निर्जरा करके वह अनादि निगोदिया जीव, व्यवहारराशि में आता है। नित्यनिगोद में से निकलकर दूसरी पर्याय धारण करे, तब वह व्यवहारराशि में आया कहा जाता है।

सामान्यरूप से संसार में कोई जीव, बन्ध और निर्जरा के बिना नहीं होता। संसार में किसी भी समय कोई भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसको मात्र बन्धन ही हो और निर्जरा बिलकुल न होती हो। हाँ; अकेली निर्जरा हो और बन्धन न हो - ऐसे जीव होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में अयोगी जीव को परमाणुमात्र भी नवीन बन्ध नहीं होता; मात्र निर्जरा ही होती है।

यहाँ निगोद के जीव को परिणाम की विशुद्धि के समय निर्जरा कही और उसके बल से वह ऊँचा आता है - ऐसा कहा, परन्तु वास्तव में तो उस जीव को संक्लेशपरिणाम के समय भी अमुक कर्म तो स्थिति पूर्ण होकर खिर ही रहे हैं, फिर भी उस निर्जरा के बल से वह ऊँचा नहीं आता; इसलिए यहाँ उसकी चर्चा नहीं की

तथा मिथ्यादृष्टि को शुभ के समय निर्जरा कही किन्तु वहाँ उस समय भी उसको बहुत से कर्मों का नवीन बन्धन भी हुआ ही करता है।

मिथ्यादृष्टि के निर्जरा अल्प और बन्धन अधिक है; इसलिए अल्प निर्जरा की उपेक्षा करके – गौण करके, 'उसके केवल बन्ध ही होता है' – ऐसा कहा। जो निर्जरा, मोक्षमार्ग के लिए काम न आवे, वह निर्जरा किस काम की? निगोद का अल्प क्षयोपशमवाला और तीव्र से तीव्र कषायवाला जो जीव है, उसको भी क्षण-क्षण में अमुक कर्मों की स्थिति पूर्ण होकर निर्जरा तो होती ही रहती है परन्तु उसकी कोई गिनती नहीं है – मूल्य नहीं है, क्योंकि वह परिणाम की विशुद्धि के बल पर नहीं हुई है अर्थात् वह निर्जरा उसको निगोद से ऊपर लाने में कारण नहीं बनती। शुभपरिणाम के बल से अज्ञानी को जो निर्जरा होती है, वह यद्यपि उसको व्यवहार से ऊँचे आने का अर्थात् मनुष्यादि पर्याय पाने का कारण होती है, तथापि वह निर्जरा, मोक्षमार्ग नहीं है।

निगोद के जीव को भी ज्ञान में क्षयोपशमभाव है, उस क्षयोपशमभाव का स्वभाव ऐसा है कि उदय में सर्वथा न जुड़े; अर्थात्, ज्ञान का अमुक अंश तो सदा खुला ही रहता है। यदि ज्ञान का थोड़ा भी अंश खुला न रहे तो क्षयोपशमभाव नहीं रहे।

यहाँ ज्ञान के अंश कहने पर उसे सम्यग्ज्ञान मत समझ लेना, वह तो सामान्यज्ञान; अर्थात्, सामान्य जानपने की बात है। निगोद के जीव को भी जानपने का जितना अंश प्रगट है, वह बन्ध का कारण नहीं है। हाँ; वह ज्ञान इतना अधिक मन्द हो गया है कि तत्त्वविचार में प्रवर्तन नहीं कर सकता; इसलिए अज्ञानरूप है और

उसमें इतना बल नहीं है कि जीव को निगोद से निकालकर ऊँचा ला सके; यह तो चारित्र में कषाय की मन्दतारूप विशुद्धि का बल है, जो जीव को निगोद से ऊपर लाता है। यहाँ कषाय की मन्दता के अनुसार ही चारित्र की विशुद्धता समझना, किन्तु वह विशुद्धि जब ग्रन्थिभेद करेगी, तभी मोक्षमार्ग की ओर जाएगी।

देखो, कोई पराधीन दृष्टिवाला कहता है कि सिद्ध भी कथञ्चित् पराधीन हैं क्योंकि वे धर्मास्तिकायरूप निमित्त के अभाव से अलोक में नहीं जा सकते। उससे कहते हैं कि अरे भाई! सिद्ध भगवान तो परम स्वाधीन हैं, स्वाधीनतापूर्वक ही वे लोकाग्र में स्थिर हुए हैं, उनकी स्वतन्त्रता की तो क्या बात? यहाँ तो कहते हैं कि निगोद का जीव भी स्वाधीन है, वह स्वतन्त्रतया अपने चारित्रपरिणाम की विशुद्धता के बल से वहाँ से निकलकर मनुष्य हो जाता है। जो अनादिकालीन अनन्त-अनन्त भव से सदा निगोद में ही था; जिसने निगोद के अतिरिक्त अन्य कोई गति कभी देखी ही नहीं, वह जीव भी चारित्रपरिणाम में कुछ शुभभाव करके, उसके बल से निगोदवास त्यागकर मनुष्यपर्याय प्राप्त कर लेता है; मनुष्य भी ऐसा पुण्यवान, जिसे लाखों रुपये प्रतिदिन की आय हो।

यह उपादान के परिणामन की स्वतन्त्रता है। 'उपादान निजशक्ति है, जिय को मूलस्वभाव।' भाई! उपादान की ऐसी स्वतन्त्रता जानकर, स्वाश्रयभाव से अपने कार्य को साध, मोक्षमार्ग को साध! तुझे अपने मोक्षमार्ग का साधन करने में किसी अन्य की शरण ग्रहण करनी पड़े – ऐसा नहीं है। तेरा मोक्षमार्ग तेरी आत्मा के ही आश्रय से है, तू अकेला ही अपने में अपने द्वारा अपने मोक्षमार्ग

को साध सकता है; अतः किसी दूसरे की तरफ मत देख। वाह! कैसी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति है!!

जीव के परिणाम में कषायादि की मन्दता हो, वहाँ कर्म की मन्दता भी होती ही होती है – ऐसा सहज मेल है। जीव के परिणाम में मिथ्यात्वादि दोष छूट जाँँ और सामने उदय में मिथ्यात्वादि कर्म उपस्थित रहें – ऐसा नहीं होता; इसलिए जीव को अपने परिणाम सम्भालना चाहिए।

कुछ अज्ञानी ऐसा विपरीत कथन करते हैं कि क्या करें? कर्म का तीव्र उदय है; कर्म का उदय अर्थात् कर्म का बल मन्द पड़े, तब हमारे परिणाम सुधरें। उससे कहते हैं कि भाई! तू अपने परिणाम सुधार न! तुझे कौन रोकता है? परिणाम सुधारने पर कर्म का बल स्वयं टूट ही जाएगा। जीव के परिणाम के अनुसार ही जगत में सहज परिणमन होता है। जो आत्मसाधना के लिए जागृत हुआ, उसके लिए अखिल जगत अनुकूल ही है। ●●



7

मोक्षमार्ग का मङ्गलमय उद्घाटन

यहाँ एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त बतलाते हुए दृष्टान्तरूप से जीव के ज्ञान और चारित्र का स्वतन्त्र परिणाम बतलाया। उसमें से चारित्रपरिणाम की कुछ विशुद्धि; अर्थात्, मन्दकषाय के बल से जीव, निगोद से निकलकर ऊँचा चढ़कर मनुष्य हुआ; अर्थात्, गर्भितशुद्धता की शुद्धि तक आया। अब, वहाँ से आगे बढ़कर व्यक्तशुद्धता कैसे हो और मोक्षमार्ग की तरफ कैसे जाया जाए? – इसकी चर्चा करते हैं –

‘ज्ञानपना, ज्ञान का और विशुद्धता, चारित्र की – ये दोनों मोक्षमार्गानुसारी हैं; इसलिए दोनों में विशुद्धता मानना, परन्तु विशेष इतना कि वह गर्भित शुद्धता है, प्रगट शुद्धता नहीं। इन दोनों गुणों की गर्भित शुद्धता जब तक ग्रन्थिभेद होवे नहीं, तब तक मोक्षमार्ग साधे नहीं, परन्तु इन दोनों गुणों की गर्भित शुद्धता, ऊर्ध्वता अवश्य करे। जब ग्रन्थिभेद हो, तब इन दोनों की शाखा फूटे और तब ये दोनों गुण धाराप्रवाहरूप से मोक्षमार्ग की तरफ

चलें। ज्ञानगुण की शुद्धता से ज्ञानगुण निर्मल हो तथा चारित्रगुण की शुद्धता से चारित्रगुण निर्मल हो। यह ज्ञान तो केवलज्ञान का अङ्कुर है और चारित्र, यथाख्यातचारित्र का अङ्कुर है।'

देखो! सम्यग्दर्शन से पूर्व ज्ञान-चारित्र के विकास में गर्भित शुद्धता कही है, किन्तु वह स्वयं मोक्षमार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग का अङ्कुर तो सम्यग्दर्शन होने पर ही प्रस्फुटित होता है। सम्यग्दर्शन हो जाने पर ही ज्ञान-चारित्र दोनों की धारा मोक्षमार्ग की तरफ चलती है। ज्ञान में से तो केवलज्ञान का अङ्कुर फूटा और चारित्र में से यथाख्यातचारित्र का अङ्कुर फूटा; इस प्रकार ग्रन्थिभेद होने पर मोक्षमार्ग प्रारम्भ हुआ। पहले विशुद्धता से जो ज्ञान और चारित्र ऊँचे आये थे; अर्थात्, ऊर्ध्वता की तरफ परिणमन करने लगे थे, तब उनमें गर्भित शुद्धता थी; वे ही दोनों अब स्वानुभव से ग्रन्थिभेद होने पर प्रगट शुद्धतारूप होकर मोक्षमार्गरूप परिणमन करने लगे। ज्ञान के जानपने को और चारित्र की विशुद्धि को मोक्षमार्गानुसारी कहा था, वह इसी अपेक्षा से समझना। वह मोक्षमार्गानुसारी कब? जब आगे बढ़कर ग्रन्थिभेद से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करे; इसके अतिरिक्त मोक्षमार्ग नहीं होता।

जो जीव, अकेले शुभ में अथवा जानपने में धर्म या मोक्षमार्ग मानकर अटक जाता है और आगे की शुद्धभूमिका का जिसको लक्ष्य नहीं है, उसके ज्ञान-चारित्र में मोक्षमार्गानुसारीपना लागू नहीं पड़ता। ज्ञानगुण और चारित्रगुणरूपी बीज में से विकासरूपी अङ्कुर प्रगट हो, उसे ग्रन्थिभेदरूपी जल पिलाने पर, मोक्षमार्गरूप शाखा फूटे और उसमें केवलज्ञान तथा वीतरागतारूपी फल पकें -

ऐसी शक्ति प्रत्येक जीव में पड़ी है। बीज और अङ्कुर होने पर भी ग्रन्थिभेद के बिना, मोक्षमार्ग की शाखा नहीं फूटती।

जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, उसने अपनी पर्याय में केवलज्ञान और वीतरागता का वृक्षारोपण किया, उसकी शाखा फूटी; अब, अल्पकाल में साक्षात् फल प्राप्त होगा। अन्त में तो सभी कुछ ग्रन्थिभेद पर ही निर्भर है। ग्रन्थिभेद अर्थात् सम्यग्दर्शन, यह मूलवस्तु है। हे जीव! यहाँ तक आया है; अब, सम्यग्दर्शन प्रगट करके मोक्षमार्गी क्यों नहीं बनता?

जानपनारूप ज्ञान और मन्दकषायरूप चारित्र, इनमें जो गर्भित शुद्धता है, उससे भी अकामनिर्जरा है - ऐसा पहले कहा था, उस सम्बन्धी शङ्का-समाधान द्वारा विशेष स्पष्टता अब करते हैं -

'यहाँ कोई आशङ्का करता है :- तुमने कहा कि ज्ञान का जानपना और चारित्र की विशुद्धता, इन दोनों से निर्जरा होती है। वहाँ ज्ञान के जानपने से निर्जरा होती है, यह तो हमने माना, परन्तु चारित्र की विशुद्धता से निर्जरा कैसे होती है? - यह हमने समझा नहीं।

उसका समाधान :- सुनो भैया! विशुद्धता तो स्थिरतारूप परिणाम से कहते हैं, वह स्थिरता यथाख्यातचारित्र का अंश है; इसलिए विशुद्धता में शुद्धता आई (और उस विशुद्धता से निर्जरा है।)

वह प्रश्नकार पुनः बोला :- तुमने विशुद्धता से निर्जरा कही, किन्तु हम कहते हैं कि विशुद्धता से निर्जरा नहीं है; शुभवन्ध है ?

उसका समाधान :- सुन भाई! यह तो तू सच्चा। विशुद्धता से शुभवन्ध और संक्लेशता से अशुभवन्ध - यह तो हमने भी माना, परन्तु और भेद इसमें है, वह सुनो! अशुभपद्धति अधोगति का परिणामन है, शुभपद्धति ऊर्ध्वगति का परिणामन है; इसलिए अधोरूप संसार और ऊर्ध्वरूप मोक्षस्थान पकड़ / स्वीकार कर; शुद्धता उसमें आई मान! मान!! इसमें धोखा नहीं है, सन्देह नहीं है। (मानि मानि, यामें धोखो नहीं है।)

ज्ञान का जानपना क्षयोपशमभावरूप है और उससे निर्जरा होती है। चारित्र में तीव्र संक्लेशपरिणाम के समय पापबन्ध होता है और उससे अधोगतिरूप परिणामन होता है; अर्थात्, मोक्षमार्ग से दूर होता जाता है। मन्दकषायरूप विशुद्धपरिणाम के समय शुभवन्ध होता है और उससे ऊर्ध्वगतिरूप परिणाम होता है। उसके उपरान्त यहाँ तो यह कहना है कि संक्लेशपरिणाम के समय चारित्र में जो तीव्र अशुद्धता थी, मन्दकषाय-शुभराग के समय वह अशुद्धता कुछ मन्द हुई, उतनी विशुद्धि मानी गयी और 'उस विशुद्धि के बल से निर्जरा करके जीव ऊँचा आता है' - ऐसा कहा। यद्यपि यह निर्जरा कहीं मोक्षमार्ग नहीं है, फिर भी जीव उसके बल से ही कुछ ऊँचा आता है और आगे बढ़े तो मोक्षमार्ग पा सकने का अवकाश प्राप्त होता है - यह यहाँ बतलाया है। सम्पूर्ण ऊर्ध्वता मोक्ष है और निगोद अत्यन्त अधोगति है।

अब, चारित्र के विशुद्धपरिणाम के बल से जीव कुछ ऊर्ध्वता प्राप्त करता है और उसी ऊर्ध्वता में आगे बढ़कर यदि ग्रन्थिभेद से शुद्धता प्रगट करे तो मोक्षमार्ग भी पाता है, इस अपेक्षा से विशुद्धता में ऊर्ध्वता मानकर उससे निर्जरा भी मानी है।

विशुद्धता में जो ऊर्ध्वता अथवा गर्भित शुद्धता कही, वह तो वहाँ से आगे बढ़कर व्यक्त शुद्धता प्रगट करने के लिए है; उसी में अटक जाने के लिए नहीं। विशुद्धता में अर्थात् मन्दकषाय में ही अटक जाए-रुक जाए तो मोक्षमार्ग नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रन्थिभेद के बिना विशुद्धता का जोर नहीं चलता; अर्थात्, मोक्षमार्ग नहीं होता।

पहले, संक्लेशपरिणाम के समय तो चारित्रपरिणाम तीव्र डाँवाडोल और अस्थिर था, उसमें तत्त्वविचार करने जितनी भी स्थिरता नहीं थी; शुभपरिणाम के समय कषाय मन्द पड़ने से चारित्रपरिणाम कुछ स्थिर हुआ, विचारशक्ति जागृत हुई; अब आगे बढ़कर ग्रन्थिभेद से शुद्ध स्वरूपाचरण प्रगट करे अर्थात् यथाख्यातचारित्र का अंश और मोक्षमार्ग हो; इस प्रकार परिणामों की ऐसी ऊर्ध्वता करने के लिए विशुद्धता में शुद्धता मानी है। इसमें कोई धोखा नहीं है; अर्थात्, इतने कथन से कहीं शुभराग स्वयं मोक्षमार्ग हो जाता है - ऐसा नहीं है क्योंकि 'शुभराग से पुण्यबन्ध होता है' - यह पहले ही कह चुके हैं।

विशुद्धता में गर्भित शुद्धता है - ऐसा माना, उसका अर्थ क्या हुआ? विशुद्धता / शुभ, स्वयं शुद्धता नहीं है अर्थात् शुभ से आगे जाकर ऊर्ध्व शुद्धता कोई उससे जुदी चीज है - ऐसा लक्ष्य में लिया है, तभी तो शुभ में न अटककर, आगे बढ़कर शुद्धता प्रगट करेगा; इसलिए उसको शाबाशी। शुभ में रुका रहे, उसके लिए शाबाशी नहीं है किन्तु उससे ऊर्ध्व जाकर शुद्धता प्रगट करने का जिसने लक्ष्य बनाया है, उसको शाबाशी कही है; इसलिए आगे कहेंगे कि विशुद्धता की जो ऊर्ध्वता है, वही उसकी शुद्धता है। ●●

8

शुद्धता की अपूर्वधारा प्रगट कर!

‘विशुद्धता सदा काल मोक्ष का मार्ग है परन्तु ग्रन्थिभेद बिना विशुद्धता का जोर नहीं चलता है न! जैसे, कोई पुरुष नदी में डुबकी मारे, फिर जब उछले, तब दैवयोग से उस पुरुष के ऊपर नौका आ जाए तो यद्यपि वह तैराक पुरुष है, तथापि किस भाँति निकले? उसका जोर नहीं चलता। बहुत कलबल करे, परन्तु कुछ वश नहीं चलता; उसी प्रकार विशुद्धता की भी ऊर्ध्वता जानना, इसलिए उसे गर्भित शुद्धता कहा है। वह गर्भित शुद्धता ग्रन्थिभेद होने पर मोक्षमार्ग को चली; अपने स्वभाव से वर्द्धमानरूप हुई, तब पूर्ण यथाख्यात प्रगट कहा गया। विशुद्धता की जो ऊर्ध्वता है, वही उसकी शुद्धता है।’

निगोदरूपी महासमुद्र से शुभपरिणाम के बल पर निकलकर यह जीव ऊँचा तो आया; तत्पश्चात् यदि सम्यग्दर्शन से मोह की गाँठ को छिन्न-भिन्न कर दे तो मोक्षमार्ग पाकर संसार से पार हो सकता है; अर्थात्, इसकी गर्भित शुद्धता, प्रगट शुद्धतारूप होकर

मोक्षमार्ग की तरफ चले। ग्रन्थिभेद हुए बिना अकेली गर्भित शुद्धता में मोक्षमार्ग में जाने की शक्ति नहीं है। निगोद में अनन्तानन्त जीव हैं और निगोद से बाहर तो उससे अनन्तवें भाग जीव हैं। अनादि से संसारसमुद्र में डूबा हुआ जीव, चारित्र का कुछ उपादान जागृत होने पर जैसे-तैसे करके कुछ ऊपर आया और भेदज्ञान करके भवार्णव से पार हो जाए। ऐसा अवसर भी प्राप्त हुआ, फिर भी यदि भेदज्ञान का उद्यम न करे और राग में ही लीन होकर अटक जाए तो वह संसार दुःख से कैसे मुक्त हो सकता है?

शुभपरिणाम के बल पर यह जीव, विशुद्धि तक तो आया, किन्तु ग्रन्थिभेद के बिना इसका कोई जोर नहीं चल सकता। देखो! यहाँ ‘कर्म के सामने जोर नहीं चला; इसलिए भवभ्रमण किया’ – ऐसा नहीं कहा है, अपितु ‘ग्रन्थिभेद बिना जोर नहीं चला; इसलिए भटका’ – ऐसा कहा है; अर्थात्, इसकी मोहग्रन्थि ही इसको संसार से पार होने नहीं देती। मोहगाँठ के भेदन (छेदन) बिना अकेला शुभभाव क्या करेगा?

भाई! अकेले शुभ का कुछ जोर नहीं चलता। स्वसत्ता के अवलम्बन से सम्यक्त्वादिरूप शुद्धता प्रगट करने पर ही शुद्धता को ऐसा बल प्राप्त होता है कि अल्प काल में ही मोक्ष प्राप्त हो जाए। शुभ तक आकर अटक जाए तो कुछ कार्य नहीं सधता, किन्तु आगे बढ़कर स्वभावधारा प्रगट करे तो सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान की कणिका प्रगट हो; अर्थात्, विशुद्धता की ऊर्ध्वता होकर व्यक्त शुद्धता हो तथा यही धारा बढ़ते-बढ़ते वीतरागता और केवलज्ञान हो जाए।

भाई! तेरे उपादान में जो सामर्थ्य भरी है और तेरे से जो हो सकता है, उसी की यह बात है। सन्तों ने जो स्वयं अपनी आत्मा में किया, वही तुझे बतला रहे हैं। अहा! आत्मा के स्वानुभव से मोक्ष को साधने का ऐसा अवसर तेरे हाथ में आया है; इसलिए हे जीव! जाग! जाग!! और अपने उपादान की सँभाल कर!!! शुभ से आगे जाकर शुद्धता की अपूर्व धारा प्रगट कर! सन्तों के प्रताप से सब अवसर आ चुका है।

पण्डित टोडरमलजी ने जो रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी है, वह साधर्मियों के प्रश्न के उत्तररूप में लिखी है और पण्डित बनारसीदासजी ने जो परमार्थवचनिका तथा उपादान-निमित्त की चिट्ठी लिखी है, वह किसी व्यक्ति के निमित्त से नहीं, बल्कि अपने अन्तरङ्ग के विचार वचनिकारूप में प्रगट किये हैं।

पण्डित बनारसीदासजी पहले तो श्वेताम्बर थे और शृङ्गाररस की रचनाएँ करने लगे थे किन्तु बाद में धर्मविचार जागृत होने पर उन्होंने दूषित साहित्य की रचनाओं को गोमतीनदी के हवाले कर दिया था। पश्चात् दिगम्बर शास्त्रों का अभ्यास होने पर अध्यात्मरस की खुमारी चढ़ गयी। अध्यात्मशास्त्रों का उन्हें बहुत अभ्यास था; कलशटीका वाँचकर उस पर उन्होंने समयसार-नाटक काव्यरूप में बनाया। देखो! वे गृहस्थ ही तो थे; गृहस्थी में रहते हुए उन्होंने अध्यात्मरस की ऐसी गङ्गा प्रवाहित की, जो आज तक बहती जा रही है। इस चिट्ठी में भी कितने सरसभाव भरे हैं!

परमार्थवचनिका में आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति का वर्णन करके मोक्षमार्ग की विशेष स्पष्टता की है; अध्यात्मरूप

शुद्धचेतनापद्धति, वह स्वद्रव्याश्रित है और वही मोक्षमार्ग है - ऐसा उसमें बतलाया है। यह उपादान-निमित्त की चिट्ठी भी जीव के ज्ञान-चारित्रादि गुणों के स्वतन्त्र परिणमन के रहस्य का उद्घाटन करती है।

निगोद का जीव, वहाँ से निकलकर बड़ा राजकुमार हो जाए - किसके बल पर? वहाँ ज्ञान तो गहलरूप-अज्ञानरूप है, विचारशक्ति भी नहीं है किन्तु चारित्र में कषाय की मन्दता करके मनुष्यपर्याय प्राप्त होती है। चारित्र की उस प्रकार की विशुद्धि से वह इतना ऊँचा आता है परन्तु वह विशुद्धि, भेदज्ञान के बिना, मोक्षमार्ग में नहीं जाती। भेदज्ञान होने के पश्चात् ही विशुद्धता की गति आगे चलती है और मोक्षमार्ग के योग्य शुद्धता होती है; भेदज्ञान के बिना मोक्षमार्गरूप शुद्धता नहीं होती। किसी अशुभपरिणाम में से सीधा मोक्षमार्गरूप शुद्धता नहीं होती, कोई अशुभपरिणाम में से सीधा मोक्षमार्ग में नहीं आ सकता; बीच में शुभ में आकर, तत्पश्चात् आगे बढ़कर ही मोक्षमार्ग में आता है; इसीलिए शुभ को विशुद्धरूप मानकर उसमें गर्भित शुद्धता कही है किन्तु भेदज्ञान के बिना तो वह गर्भित शुद्धता व्यर्थ है, किसी काम की नहीं; उससे मोक्षमार्गरूपी कार्य नहीं बनता।

निगोद में से राग की मन्दतारूप अपने उपादान से जीव ऊपर आया, किन्तु राग और ज्ञान की एकत्वबुद्धि तोड़े बिना मोक्षमार्ग नहीं प्रगटेगा और मोक्षमार्ग प्रगटे बिना उस ऊपर आने का क्या फल? अहो! एक ज्ञान की अनुभूति में सब कुछ समा जाता है, सारा मार्ग ज्ञानानुभव में ही समाविष्ट है। जहाँ ज्ञायक की अनुभूति

हुई, वहाँ कहा कि इसको 'सब आगमभेद सु उर बसे'।

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, वे परस्पर असहाय हैं; एक द्रव्य के अनन्त गुण हैं, वे परस्पर असहाय हैं; प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं, वे परस्पर असहाय हैं।

भाई! जब तेरे गुण-पर्यायों में भी एक-दूसरे की सहायता नहीं है तो फिर अपने से बाहर में तुझे किसकी सहायता लेनी है? मेरे कार्य में दूसरे की सहायता, मेरे गुण-पर्याय में दूसरे की सहायता; इसका अर्थ यह हुआ कि मेरे गुण-पर्याय पराधीन हैं; ऐसी पराश्रयबुद्धिवाले जीव की परिणति स्वतरफ कहाँ से बढ़ेगी? भगवान् सर्वज्ञदेव ने वस्तु को स्वभाव से ही द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप प्रत्यक्ष देखा है। वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को दूसरे के द्वारा होना, भगवान् ने देखा ही नहीं है।

श्रीसमन्तभद्रस्वामी, भगवान् की स्तुति करते हुए स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं कि हे नाथ! जगत के पदार्थ प्रत्येक समय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप आपने देखे हैं, यह आपकी सर्वज्ञता का चिह्न है। आपके द्वारा कथित ऐसे वस्तुस्वरूप को और उसके द्वारा आपकी सर्वज्ञता को पहिचान कर, हम आपकी स्तुति करते हैं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसे सूक्ष्म वस्तुस्वरूप को कोई प्रत्यक्ष नहीं जान सकता; ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार हे जिनेन्द्रदेव! आपके द्वारा ज्ञात और कथित वस्तुव्यवस्था, हमारे सम्यग्दर्शन-ज्ञान का कारण है; इसलिए आप पूज्य हो।

श्रीसीमन्धरनाथ भगवान् अभी महाविदेह में विराजते हैं, वे भी ऐसा ही वस्तुस्वरूप बतला रहे हैं और गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती जैसे श्रोतागण, आदरपूर्वक सुन रहे हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी भगवान् की वाणी झेलकर समयसार, प्रवचनसार आदि में वही अलौकिक वस्तुस्वरूप कह गये हैं। वस्तुस्वरूप का सिद्धान्त त्रिकाल एकरूप है।

द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु सत् है। उत्पाद भी सत् का अंश है, वह स्वयं से है। विभावपर्याय का उत्पाद भी अपने उपादान से है; पर से नहीं है किन्तु उसमें जो विभाव है, वह स्वाश्रय से नहीं हुआ है, वह तो पराश्रय से ही है; इसलिए उसे निमित्ताधीन कहा है। देखो! निमित्ताधीन का अर्थ ऐसा नहीं है कि निमित्त ने विकार करवाया हो; निमित्त कहीं विकाररूप परिणाम नहीं है और न निमित्त ने विकाररूप परिणामन करवाया है। स्वभावपर्यायरूप अथवा विभावपर्यायरूप वस्तु स्वयं अपने उस प्रकार के उपादान से पर की सहायता के बिना ही परिणामन करती है - ऐसा वस्तुस्वरूप सदा काल है।

छहों द्रव्य सदा असहायपने अर्थात् दूसरे की सहायता के बिना ही स्वाश्रय से ही परिणामन करते हैं; इस सम्बन्ध में नाटक समयसार में पण्डित बनारसीदासजी ने अति सरस बात की है। शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामी! राग-द्वेषपरिणाम का मूल कारण कौन है, असली कारण कौन है? क्या पुद्गलकर्म उसका कारण है? अथवा इन्द्रियों के विषय, धन, परिवार, मकान इत्यादि कारण हैं? वह आप कहो।

गुरु समाधान करते हुए कहते हैं -

गुरु कहें छहों दरब अपने-अपने रूप,
सबनि को सदा असहाई परिनौन है ।
कोऊ दरब काहू को न प्रेरक कदाचि तातें,
राग-द्वेष-मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥

छहों द्रव्य निज-निज स्वरूप में सदा निजाश्रित परिणमन करते हैं; कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य की परिणति के लिए कदापि प्रेरक नहीं होता; इसलिए मिथ्यात्व-मोह का मदिरापान ही राग-द्वेष का मूल कारण है; अन्य कोई नहीं। वस्तुस्थिति ऐसी ही होने पर भी जो आत्मा को पुद्गल की बलजोरी से राग-द्वेष का होना मानता है, उसको मूर्ख कहा है। ऐसे विपरीत पक्षवाला जीव, राग-द्वेष मोह से कभी नहीं छूट सकता।

भाई! तू चैतन्यराजा है!! तू अपने चैतन्यभाव को उत्पन्न करने में समर्थ है। यह चैतन्यराजा, मिथ्यात्वदशा में राग-द्वेषभाव भी स्वयं ही उत्पन्न करता था और सम्यक्त्वदशा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-सुखादि निर्मलभावों को भी स्वतन्त्रता से स्वयं ही उत्पन्न करता है। अहो, कितनी सुन्दर बात है! ●●



9

स्वतन्त्रता का ढिंडोरा

उपादान अर्थात् वस्तु की सहजशक्ति; निमित्त अर्थात् परसंयोग, वह असहायी और अकिञ्चित्कर।

एक दूसरे को सहायक न हो, मात्र तटस्थ उदासीन हो, उसे ही निमित्त कहते हैं। अपने अनन्त गुण-पर्याय स्वाधीन हैं, उन्हें पहिचाने तो दुःख नहीं रहता। क्षायिकसम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाह्य में केवली या श्रुतकेवली की सहायता नहीं है, अन्दर में राग की सहायता नहीं है; अरे! चारित्रगुण की भी सहायता नहीं है। किन्हीं महामुनिराज को चारित्रदशा होने पर भी क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता तथा किसी गृहस्थ को चारित्रदशा न होने पर भी क्षायिकसम्यक्त्व हो जाता है; इस प्रकार प्रत्येक गुण का स्वतन्त्र परिणमन निज-निज उपादानानुसार है।

जितना ज्ञान, उतना सुख; पूर्णज्ञान तो पूर्णसुख; तथापि दोनों पर्यायें स्वतन्त्र। ज्ञानरूप परिणमन ज्ञानगुण का और सुखरूप परिणमन सुखगुण का; ज्ञानगुण, सुखरूप नहीं परिणमता और सुखगुण, ज्ञानगुणरूप से नहीं परिणमन करता अर्थात् कोई किसी के आधीन

नहीं है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्रत्येक आत्मा में है, उसी स्वतन्त्रता का यह ढिंढोरा पीटा जा रहा है। ऐसी स्वतन्त्रता समझे बिना, परिणति स्वसन्मुख नहीं झुकती और उसके बिना सुख नहीं मिलता; जहाँ स्वतन्त्रता, वहीं सुख है।

जीव स्वतन्त्र है, चाहे तो अज्ञानभाव से विकार की परम्परा चालू रखे अथवा उसे तोड़कर सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट कर ले। जीव ऐसा पराधीन नहीं है कि उसकी पर्याय का कारण कोई दूसरा बने। शुभ-अशुभ या शुद्धपरिणतिरूप से जीव स्वयं अपने उपादानबल से ही परिणमन करता है, उस समय अन्य द्रव्य निमित्त होता है किन्तु कहीं उसके कारण जीव का परिणाम नहीं होता। शुभभाव में निमित्त जिनप्रतिमा; क्षायिकसम्यक्त्व में निमित्त केवली-श्रुतकेवली; ज्ञान में निमित्त जिनवाणी - ये सभी निमित्त अकिञ्चित्कर हैं। वस्तु अपने उपादान से, निमित्त की सहायता बिना ही परिणमन करती है। ज्ञान, वाणी और इच्छा तीनों स्वतन्त्र हैं। इसी सिद्धान्तानुसार उपादान-निमित्त के सब दृष्टान्तों में स्वतन्त्रता समझ लेना चाहिए।

यदि जीव यह बात समझ ले तो परद्रव्य की क्रिया में कर्तापने का अभिमान छोड़कर स्वतरफ झुके; ज्ञान में सत्यता आवे, असत्यता टले अर्थात् दुःख टले और स्वाधीन सुख हो, यह स्वतन्त्रता की समझ का फल है। अपने अनन्त गुण अपने में हैं। जो अपने में है, ऐसा अपना एक गुण भी जब दूसरे गुण का सहायक नहीं होता तो फिर जो अपने में नहीं है, ऐसा अन्य बाह्य पदार्थ तो अपना सहायक होगा ही कहाँ से? इन्द्र, साधकभाव से जब तीर्थङ्करदेव के चरणों में नमस्कार करता हो, तब -

- (1) भगवान जैसे अपने शुद्धस्वरूप का सम्यग्ज्ञान,
- (2) भगवान की भक्ति का शुभराग, और
- (3) हाथ जोड़नेरूप जड़ की क्रिया;

- इस प्रकार ज्ञान, राग और जड़ - तीनों की क्रिया एक साथ हो रही है, तथापि तीनों स्वतन्त्र हैं; किसी के कारण कोई नहीं है, कोई किसी का कर्ता नहीं है।

अरे जीव! भगवान के आँगन में तू कभी आया नहीं; भगवान का मार्ग जगत से जुदा है, उसका आँगन भी जुदा है। देखो न, समवसरण की शोभा! कैसी अचिन्त्यता!! यह भगवान का बाह्य आँगन भी कैसा अचिन्त्य! साधकों ने भगवान का आँगन देखा है। भगवान की बैठक भी जुदी जाति की है। सिंहासन के ऊपर दिव्य गन्धकुटी और उसको भी स्पर्श बिना चार अङ्गुल ऊपर भगवान विराजते हैं। भगवान का आत्मा, परभाव से अलिप्त और देह सिंहासन से अलिप्त - दोनों ही निरालम्बी हैं। देखो तो सही! अन्दर आत्मा निरावलम्बी हुआ, तब बाहर का शरीर भी निरावलम्बी हो गया।

जीव, तत्त्वनिर्णय करके भगवान के आँगन में आवे तो अन्दर प्रवेश हो और सम्यग्दर्शन से अपने में ही भगवान के दर्शन हों, स्वयं अपने को ही भगवानस्वरूप देखे। वाह, देखो यह भगवान का मार्ग! स्वयं अपने को भगवानरूप में देखे, तभी वह भगवान के घर में आया कहा जाए। वह भगवान का वास्तविक युवराज हुआ, जिनेश्वर का नन्दन हुआ; उसने अनेकान्तरूपी अमृत पिया, धन्य हो गया वह!

प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्याय अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं; किसी की मर्यादा को कोई नहीं तोड़ता है। भिन्न पदार्थ एक दूसरे में नहीं मिलते; एक दूसरे के गुण-पर्याय में कुछ हस्तक्षेप नहीं करते। निगोद के जीव को न तो है कुछ श्रवण और न बाहर में दूसरा कोई निमित्त, तथापि वह अपनी उपादानशक्ति से शुभभाव करके, वहाँ से निकलकर मनुष्य हो जाता है। किसी जीव को सम्यक्त्वपरिणाम हो, उसी समय साथ में एक ही पर्याय में अशुभपरिणाम भी हो, तथापि सम्यक्त्व को कोई बाधा नहीं पहुँचती है और यदि शुभपरिणाम हो तो सम्यक्त्व को कुछ लाभकारक नहीं है, क्योंकि शुभ-अशुभ का कर्तृत्व सम्यग्दर्शन में है ही नहीं। दोनों धाराएँ भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं। एक ही समय की पर्याय में एक साथ दोनों धाराएँ चलती हैं, तथापि दोनों की कार्यधारा अत्यन्त भिन्न है। परिणाम की ऐसी स्वतन्त्रता है।

किसी मिथ्यादृष्टि को शुक्ललेश्या हो, किन्तु उससे उसे सम्यक्त्व का कोई लाभ नहीं होता है। किसी सम्यक्त्वी को कृष्णलेश्या हो, किन्तु उससे उसके सम्यक्त्व को कोई हानि नहीं पहुँचती है। एक ही वस्तु में लेश्या और सम्यक्त्व, दोनों परिणाम स्वतन्त्र हैं। यहाँ ज्ञान और चारित्र, दोनों की स्वतन्त्रता और असहायपना बतलाकर, उनको निमित्त-उपादानरूप से वर्णन किया है। एक ही समय की पर्याय में उपादान और निमित्त दोनों वर्तते हैं।

अहा! कितनी सूक्ष्म सरस बात है! उपादान-निमित्त दोनों एक जाति के हों; अर्थात्, दोनों अशुद्ध हों अथवा दोनों शुद्ध हों – ऐसा नहीं बतलाना है; यहाँ तो एक पर्याय में ज्ञान – चारित्र के दो

प्रकार कैसे एक साथ हैं किन्तु फिर भी दोनों कैसे स्वतन्त्र हैं? – वह बात बतलाना है। एकेन्द्रियादि को जानरूप ज्ञान कभी होता नहीं; अजानरूप ही ज्ञान होता है; अर्थात्, शुद्धनिमित्त का भङ्ग उन पर लागू नहीं पड़ता, शेष के तीन बोल ही लागू होते हैं। चारों बोल तो ऐसे पञ्चेन्द्रिय जीव पर ही लागू होते हैं, जिसमें तत्त्वविचार जागृत हुआ हो।

प्रश्न – एकेन्द्रिय के लेश्या तो अशुभ ही कही है, फिर उसके शुभपरिणाम कैसे होंगे?

उत्तर – अशुभलेश्या में भी अनेक प्रकार की तारतम्यता होती है। लेश्या अशुभ हो, तथापि उसके साथ शुभपरिणाम भी होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी को शुभलेश्या हो तो भी उसके साथ अशुभपरिणाम होते हैं। जैसे, नरक में अशुभलेश्या ही होती है, फिर भी वहाँ कोई जीव, शुभपरिणाम भी करता है तथा देवों में शुभलेश्या ही है, तथापि वहाँ कोई जीव, अशुभपरिणाम भी करता है। इस प्रकार जीवों के परिणामों में अनेक प्रकार की विचित्रता है।

मोक्षमार्ग के सन्मुख हुए जीव में ज्ञान-चारित्र की गर्भित शुद्धता कही गयी है किन्तु सम्यक्शुद्धता जैसी शुद्धता, ग्रन्थिभेद हुए बिना होती नहीं। ऐसी ज्ञान की गर्भित शुद्धता कहीं सभी पञ्चेन्द्रिय जीवों में नहीं होती और एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यन्त तो किसी के भी नहीं होती। इस ज्ञान की गर्भित शुद्धता से अकामनिर्जरा है, उस समय कदाचित् संक्लेशभाव हों तो भी अकामनिर्जरा होती ही रहती है। किन्तु भाई! ज्ञान की इतनी विशुद्धि हो जाने से कहीं धर्म या मोक्षमार्ग नहीं हो जाता, सम्यग्ज्ञान नहीं हो जाता; मात्र

ज्ञानपरिणाम में इतनी ऊर्ध्वता हो जाती है कि वह ग्रन्थिभेद कर सके और मोक्षमार्ग प्राप्त कर ले। इसी तरह चारित्र में जो विशुद्धता कही गयी है, उसमें भी समझ लेना। अब तक के कथन में इसका विशद स्पष्टीकरण हो चुका है।

अशुभ के समय जितनी तीव्र अशुद्धता है, उतनी शुभ के समय नहीं है; शुभ के समय अशुद्धता मन्द हुई है - इस अपेक्षा से उसमें विशुद्धि का अंश कहा, किन्तु वह मोक्षमार्गरूप नहीं है; इसलिए उसे गर्भित शुद्धता कहा; मोक्षमार्ग नहीं कहा। इस रहस्य को भलीभाँति ध्यानपूर्वक समझना चाहिए, क्योंकि मोक्षमार्ग की सम्यक्शुद्धता और इस गर्भित शुद्धता की जाति भिन्न-भिन्न है, स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

आत्मा का मुक्तस्वभाव है अर्थात् बँधे हुए कर्म सदा बन्धनयुक्त ही नहीं बने रहते; वे सदा छूटते ही रहते हैं, अकामनिर्जरा तो होती ही रहती है। इतना तो अवकाश रहता है कि कभी इतनी अशुद्धता नहीं होती, जिससे अकामनिर्जरा भी न हो सके। जीव का ज्ञानांश क्षयोपशमरूप से थोड़ा खुला रहता ही है और संक्लेशभाव के समय भी अमुक कर्मों की निर्जरा तो चालू ही है अर्थात् आत्मा को छूटने का इतना अवकाश तो सदा होता ही है परन्तु यहाँ तो सम्यक् पुरुषार्थ के बल से मिथ्यात्वादि कर्मों का अत्यन्त नाश करके, साक्षात् मोक्षमार्ग में कैसे प्रवेश किया जाए? उसकी बात है।

कषाय है, वह अशुद्धता है; जितनी कषाय घटी, उतनी विशुद्धता हुई - ऐसा कहा, परन्तु उसमें अभी सम्यक्त्व की शान्ति प्रगट नहीं

हुई; अर्थात्, वह प्रगट शुद्धता नहीं है, सम्यक्त्व होने पर ही प्रगट शान्ति का वेदन होता है। कषाय की मन्दता हुई, उतनी विशुद्धता कही, किन्तु यदि कषाय और ज्ञान की एकत्व की गाँठ को भेदज्ञान से भेदे नहीं तो उसको मोक्षमार्ग का कोई लाभ हो ही नहीं सकता; मोक्षमार्ग का लाभ तो भेदज्ञान से ही होता है।

संक्लेश में से तो मोक्षमार्ग की तरफ कभी नहीं जा सकते; विशुद्धता में से ही मोक्षमार्ग की तरफ जाते हैं परन्तु कब? ग्रन्थिभेद करे तब।

शुभभावरूप विशुद्धता के बल से जीव इतना ऊँचा आवे कि निगोद में से निकलकर मनुष्य होकर समवसरण में जाए, गणधरदेव के पास जाए, सन्तों की सभा में जाकर बैठे, भगवान की देशना जैसे गणधरदेव सुनते हैं, वैसे वह भी उसी सभा में बैठकर सुने; इतना ऊँचा अपने शुभभाव से आवे, परन्तु ग्रन्थिभेद के बिना मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता।

जब ग्रन्थिभेद करे, तब विशुद्धता वर्द्धमानरूप होकर शुद्धता को साधती है। विशुद्धता ही वर्द्धमान होती है; अर्थात्, कहीं राग वर्द्धमान होता हो - ऐसा मत समझ लेना, किन्तु राग का अभाव वृद्धिङ्गत होता जाता है - ऐसा समझना। राग की धारा बढ़-बढ़कर कहीं अनुभव नहीं होता, किन्तु विशुद्धता से तीव्रराग का जिस प्रकार अभाव किया; उसी प्रकार आगे बढ़कर राग का अत्यन्त अभाव करके (राग से भिन्न चैतन्य को अनुभव में लेकर) भेदज्ञान होकर मोक्षमार्गरूप शुद्धता प्रगट होती है, इसी को विशुद्धता की ऊर्ध्वता हुई कही जाती है और वही विशुद्धता बढ़ती-बढ़ती

केवलज्ञान तथा यथाख्यातचारित्र को साधती है। 'जात बिना भात पड़े नहीं', वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना शुद्धता की भात आत्मा में नहीं पड़ती अर्थात् सम्यग्दर्शन के होने से पूर्व जो ऊर्ध्वता कही, उससे मोक्षमार्ग का लाभ नहीं हो सकता; वह तो सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। ●●

10

मोक्षमार्ग का स्वरूप

और सुन! जहाँ मोक्षमार्ग साधा, वहाँ कहा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तथा ऐसा भी कहा कि 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः।'

उसका विचार - चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त मोक्षमार्ग कहा, उसका विवरण - सम्यक्स्वरूप ज्ञानधारा, विशुद्धस्वरूप चारित्रधारा, दोनों धाराएँ मोक्षमार्ग को चलीं; वहाँ ज्ञान से ज्ञान की शुद्धता, क्रिया से क्रिया की शुद्धता है। यदि विशुद्धता में शुद्धता है तो यथाख्यातरूप होती है। यदि विशुद्धता में शुद्धता न होती तो केवली में ज्ञानगुण शुद्ध होता और क्रिया अशुद्ध रहती, परन्तु ऐसा तो है नहीं; उनमें शुद्धता थी, उससे विशुद्धता हुई है।

यहाँ कोई कहे कि ज्ञान की शुद्धता से क्रिया शुद्ध हुई, सो ऐसा है नहीं। कोई गुण किसी गुण के सहारे नहीं है; सब असहायरूप हैं, और भी सुन! यदि क्रिया पद्धति सर्वथा अशुद्ध होती तो अशुद्धता की इतनी शक्ति नहीं है कि मोक्षमार्ग

बाह्य प्रतिकूलताओं में भी सन्त सुखी

सन्तों को बाह्य प्रतिकूल संयोगों का दुःख नहीं है क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शी है, वह पर संयोग का स्पर्श नहीं करता; इसलिए उसको संयोग का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तरस्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है अर्थात् आनन्द का अनुभव हुआ है और तत्पश्चात् विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें परम आनन्द की वृत्ति बढ़ गई है। भगवान, वन में अकेले रहने के कारण दुःखी नहीं थे। भगवान तो अन्तर के चैतन्यवन में आनन्द की मौज करते थे। वस्तुतः तो भगवान वन में रहे ही नहीं थे, भगवान शरीर में भी नहीं रहे थे, पञ्च महाव्रत के विकल्प में भी भगवान नहीं रहे थे, भगवान तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ 148)

को चले; इसलिए विशुद्धता में यथाख्यात का अंश है; अतः वही क्रम-क्रम से पूर्ण हुआ।

मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। मोक्षमार्ग क्या है? इस प्रश्न के उत्तररूप प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह है। जहाँ 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' कहा, वहाँ भी सम्यग्ज्ञान के पेटे में सम्यग्दर्शन आ ही गया, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना कभी सम्यग्ज्ञान नहीं होता; दोनों युगपत् ही होते हैं और क्रिया कहने से सम्यक्चारित्र भी आ गया। इस प्रकार 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' में भी 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' आ जाता है।

प्रश्न - बन्ध के कारण पाँच कहे हैं - मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग; अतः मोक्ष के कारण में भी इन पाँचों का अभाव आना चाहिए। वह किस प्रकार है?

उत्तर - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में इन पाँचों बन्ध के कारणों का अभाव अवश्य आ जाता है। यथा — सम्यग्दर्शन-ज्ञान में तो मिथ्यात्व का अभाव है और सम्यक्चारित्र में अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा योग का अभाव है; इस प्रकार बन्ध के पाँचों ही कारणों के अभावरूप मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - सम्यक्चारित्र में अव्रतादि का अभाव है, यह तो ठीक, परन्तु उसमें योग का अभाव है - यह किस प्रकार है? योग तो बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में भी होता है?

उत्तर - वीतरागभावरूप चारित्र बारहवें गुणस्थान में पूर्ण हो गया है, यह तो ठीक, परन्तु अभी आत्मद्रव्य के सभी गुण

अपने-अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुए हैं, इस अपेक्षा से आत्मद्रव्य का चारित्र अभी पूर्ण नहीं हुआ है। आत्मद्रव्य के सर्व गुणों की स्वरूपस्थिति चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मानी गयी है और तभी मोक्षमार्ग की पूर्णता भी मानी गयी है; उसके अनन्तर समय में मोक्ष होता है। यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सम्पूर्ण मोक्षमार्ग बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण हो गया होता तो तत्काल ही मोक्ष क्यों नहीं हो जाता? परन्तु ऐसा होता नहीं है, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा के सभी गुणों की विवक्षा से देखने पर मोक्षमार्ग की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में ही होती है और उसमें बन्ध के कारणरूप योग का भी अभाव हो जाता है। इस भाँति 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' निर्बाध है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से आत्मा को बन्ध-मोक्ष नहीं है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि रत्नत्रयपरिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि ज्ञान और क्रिया, मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि चार प्रकार की आराधना, मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि उत्तमक्षमादि दश धर्म, मोक्ष के कारण हैं।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि शुद्धात्मा की अनुभूति, मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि निश्चयनयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करें निर्वाण की।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि ज्ञानानुभूति ही मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि वीतरागता ही मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि शुद्धोपयोग, मोक्षमार्ग है।

* किसी समय ऐसा कहते हैं कि स्वद्रव्य का आश्रय ही मोक्षमार्ग है।

– परन्तु इन सभी प्रकारों में मूल तात्पर्य एक ही है, कहीं भी विरुद्धता नहीं है; भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने के लिए अनेक विवक्षाओं से कथन किया जाता है। जहाँ जिस विवक्षा से ग्रन्थकार ने कथन किया है, वहाँ उसी विवक्षा से समझ लेना चाहिए। ज्ञात हो कि वीतरागी शास्त्रों का तात्पर्य सदैव ऐसा ही होता है कि जिससे आत्मा को लाभ हो और वीतरागता की वृद्धि हो।

सम्यग्दर्शन होने से पहले ज्ञान-चारित्र में किञ्चित् विकास तथा निर्जरा देखकर उसमें विशुद्धता भले ही कह दी हो, किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना उसका बल नहीं चलता अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं होता; अतः सम्यग्दर्शन की प्रधानता आई। सम्यग्दर्शनसहित का ज्ञान और सम्यग्दर्शनसहित की स्वरूपस्थिरतारूप क्रिया ही मोक्षमार्ग है; इस प्रकार सम्यग्दर्शन –ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन –ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहते ही 'उनसे विरुद्ध मिथ्यादर्शन –ज्ञान-चारित्र बन्ध के कारण हैं' – ऐसा भी आ गया।

प्रश्न – ज्ञान का क्षयोपशम, बन्ध का कारण नहीं है – ऐसा आपने ही तो कहा था न ?

उत्तर – ज्ञान का क्षयोपशमभाव, बन्ध का कारण नहीं है, यह सत्य है क्योंकि यदि वही बन्ध का कारण हो तो जैसे-जैसे क्षयोपशम वृद्धिङ्गत हो, वैसे-वैसे बन्ध भी बढ़ना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञान जब स्वयं मोह के साथ मिलकर वर्तता है और निज प्रयोजन को नहीं साधता अर्थात् स्वतत्त्व को जानने में नहीं प्रवर्तता, तब वह बन्ध का कारण होता है; अर्थात्, मिथ्याज्ञान को बन्ध का कारण कहा है। ज्ञान जब स्वतत्त्व को जानने में प्रवर्तता हुआ निजप्रयोजन को साधता है, तब उस सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है।

हे महाप्राज्ञ! ज्ञान पर को जानता है, इस कारण से तू दुःखी मत हो! अर्थात्, सम्यग्ज्ञान पर को जानता है, इससे कहीं वह मिथ्या नहीं हो जाता; जानने का तो उसका स्वभाव है किन्तु स्व-पर की भिन्नता को जाने नहीं, स्वतत्त्व को पहचाने नहीं और मात्र पर को ही जानने में प्रवर्तन करे तो अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट हुआ वह अज्ञान, बन्ध का कारण होता है। ज्ञान ने अपने स्वरूप को नहीं पहचाना, यह उसका अपराध है। इस प्रकार विवक्षानुसार आशय समझने पर शास्त्रों में कहीं भी विरोध नहीं आता है।

निगोद से निकलकर मनुष्य होने पर ज्ञान का क्षयोपशम विशेष बढ़ाये, किन्तु वह ज्ञान, स्वसन्मुख होकर जब तक स्वप्रयोजन को न साधे, तब तक मोक्षमार्ग में नहीं आता; स्वतत्त्व को जानकर सम्यक् हो, तभी वह मोक्षमार्ग में आता है। इस अपेक्षा स्वानुभूतिरूप

आत्मज्ञान के समक्ष शास्त्रज्ञान को स्थूल कहा है। ज्ञान सम्यक्पने विकसित होकर जब केवलज्ञान की तरफ चला, तब उसके साथ चारित्र का अंश भी शुद्ध होकर यथाख्यात की तरफ चला; इस प्रकार यद्यपि दोनों गुणों की धारा मोक्षमार्ग में एक साथ है, तथापि ज्ञान के कारण, ज्ञान और चारित्र के कारण, चारित्र है अर्थात् दोनों स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न - पर्याय की शुद्धता तो गुण की शक्ति में से आयेगी न, फिर क्षयोपशम में और कषाय की मन्दता में गर्भित शुद्धता कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - गुण परिणमन करके शुद्धता आती है - यह बात सत्य है किन्तु यहाँ पर्याय की धारा का प्रवाह बतलाना है। यदि पर्याय में से अशुभ का तीव्र संक्लेश मिटकर शुभ जितनी विशुद्धता न हो तो मोक्षमार्ग की शुद्धता कहाँ से होगी ? निगोद पर्याय में से निकलकर सिद्धपर्याय की तरफ प्रवाह चला, तो उस प्रवाह में संक्लेश टलकर मन्दतारूप विशुद्धता आती है, पश्चात् ग्रन्थिभेद से मोक्षमार्ग आता है और तत्पश्चात् केवलज्ञान होता है। इस प्रकार शुद्धता की तैयारीवाले जीव की पर्याय में परिणमन की धारा का विश्लेषण किया।

जहाँ ग्रन्थिभेद होते ही मोक्षमार्ग प्रारम्भ हुआ, वहाँ ज्ञान-चारित्र दोनों की धारा शुद्ध होती जाती है। मात्र ज्ञान की वृद्धि होती जाए और चारित्र की शुद्धता न बढ़े - ऐसा नहीं होता; गुणस्थानानुसार ज्ञान और चारित्र दोनों की शुद्धि बढ़ती ही जाती है। ज्ञान और चारित्र, एक-दूसरे के आश्रित भले ही नहीं हैं किन्तु जैसे-जैसे मोक्षमार्ग बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे दोनों ही शुद्धता की धारा भी

बढ़ती जाती है। यदि ऐसा न हो तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव को ज्ञान तो परिपूर्ण हो जाए और चारित्र अशुद्ध ही रह जाए, परन्तु ऐसा नहीं होता।

यहाँ जिस तरह केवलज्ञानी का दृष्टान्त है; उसी तरह चतुर्थ गुणस्थान से जहाँ मोक्षमार्ग प्रारम्भ हुआ, वहाँ भी सम्यग्ज्ञान के साथ स्वरूपाचरणचारित्र भी विद्यमान रहता ही है। गुणभेद होने पर भी मोक्षमार्ग प्रारम्भ होते ही सभी गुणों में शुद्धता की परिणमनधारा प्रारम्भ हो जाती है - ऐसा समझना चाहिए। **सर्वगुणांश सम्यक्त्व** - ऐसा श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है। इससे पहले भी जैसे ही ज्ञान में जानपने का उघाड़ हुआ, वैसे ही चारित्र में कषाय की मन्दतारूप विशुद्धि भी हुई। विचारदशा के जागृत होने पर कषाय की मन्दता तथा वैराग्यपरिणाम भी साथ-साथ ही होते हैं, उसके पश्चात् ग्रन्थिभेद होने पर दोनों गुणों की धारा मोक्षमार्ग की तरफ चलने लगती है। चारित्र और ज्ञान के पूर्ण होने पर तत्सम्बन्धी जो पूर्ण निर्जरा हो जाती है, उसका प्रारम्भ तो पहले से (जब से तत्त्वविचार सम्बन्धी ज्ञान का उघाड़ हुआ और चारित्र में संक्लेश से विशुद्धता हुई, तब से) ही हो जाता है।

यहाँ ऐसे ऊर्ध्वगामी जीव को लिया गया है, जो आगे बढ़कर अवश्य ही मोक्षमार्ग को साधेगा। यदि पहले ही आंशिक निर्जरा न होती हो तो पूर्ण निर्जरा भी नहीं होती। ऐसा होने पर भी शुभराग से निर्जरा नहीं है किन्तु उस समय जो तीव्रता का अभाव होता है, उससे निर्जरा है। अशुभ की धारा आगे बढ़कर कहीं शुद्धता तक नहीं पहुँचती। अशुभ में से पहले शुभ में आता है, फिर ग्रन्थिभेद

के बल से उससे भी आगे बढ़कर केवलज्ञान को साधता है - ऐसा विकासक्रम है। ज्ञान में अज्ञानपने की धारा बढ़-बढ़कर केवलज्ञानरूप नहीं होती, किन्तु प्रथम अज्ञानपना-मूर्च्छितपना छूटकर तत्त्वविचार के योग्य ज्ञान का जानपना प्रगट हो, पश्चात् ग्रन्थिभेद के बल से आगे बढ़कर केवलज्ञान को साधे - ऐसा ज्ञान के विकास का क्रम है।

इस प्रकार निगोद से लेकर केवलज्ञान तक, ज्ञान और चारित्र दोनों गुण अपनी-अपनी धारा में स्वतन्त्रतया अपने उपादान से ही विकसित होते हैं। इन दो गुणों के दृष्टान्त से सर्व गुणों के उपादान में असहाय और स्वाधीन परिणाम होता है - ऐसा समझ लेना चाहिए। ●●

सन्तों की अनादि दशा

अन्तर में आत्मा का भान होने के बाद राग-द्वेष और परिग्रह हो, वहाँ तक श्रावकदशा होती है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा तो अन्तर में विशेष लीनता द्वारा राग-द्वेष मिटकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती दशा प्रगट होने पर ही होती है - ऐसी अनादि सन्तों की दशा है। अहो! वह दशा कब आयेगी? ऐसी भगवान को भावना थी।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती पृष्ठ 138)

11

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता का उपसंहार

अब यहाँ एक द्रव्याश्रित उपादान-निमित्त की चौभङ्गी का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि 'ऐ भइया उटकनावारे! अर्थात् हे प्रश्नकार भाई! तूने विशुद्धता में शुद्धता मानी या नहीं? यदि तूने मानी तो कुछ और कहने का कार्य नहीं; यदि तूने नहीं मानी तो तेरा द्रव्य इसी प्रकार परिणत हुआ है, हम क्या करें? यदि तूने मानी तो शाबाश! यह द्रव्यार्थिक की चौभङ्गी पूर्ण हुई।'।

वस्तु की ऐसी ऊर्ध्वता की धारा तेरी समझ में आ जाए तो तुझे शाबाशी! यहाँ तक ऊँचा आया, अब परिणमन की स्वतन्त्रता जानकर विशुद्धता में से शुद्धता की ओर जा तो तुझे शाबाशी! जो तीव्र मिथ्यादृष्टि है, जिसको स्वभाव के विचार की शक्ति नहीं है, उसको तो शुभ के समय भी विचार नहीं है कि मेरे इस विशुद्धता में शुद्धता पड़ी है। हाँ, शुद्धस्वभाव का जिसको

लक्ष्य है, स्वभाव के विचार की श्रेणी जिसके चलती है, वह जानता है कि इस विशुद्धता में राग का आंशिक अभाव हुआ है तो स्वभाव में राग का पूर्ण अभाव अवश्य है। जिसका आंशिक अभाव हुआ है, उसका पूर्ण अभाव भी हो सकता है; अर्थात्, रागादि का जितने अंश में अभाव हुआ है, उतना शुद्धता का गर्भित अंश है - ऐसा शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से कहा; अर्थात्, जिसे ऐसा लक्ष्य है, वह तो ऊर्ध्वपरिणामी होकर मोक्षमार्ग व्यक्त करता है; अतः उसके लिए 'शाबाश' कहा। अकेले शुभराग या ज्ञान के विकास से मोक्षमार्ग नहीं हो जाता।

विशुद्धता में शुद्धता स्वीकार करनेवाले के लक्ष्य में यह बात बराबर जमी है कि यह विशुद्धि स्वयं मोक्षमार्ग नहीं है; जब ग्रन्थिभेद से शुद्धता का उद्घाटन होगा, तब मोक्षमार्ग होगा; इसलिए कहा कि यदि तूने इस प्रकार जाना तो तुझे शाबाशी! क्योंकि इस जानने में साथ रहनेवाला शुद्धस्वभाव का लक्ष्य काम करता है। अकेले राग में खड़े रहकर, राग को ही मोक्षमार्ग समझ ले तो उसके लिए कोई शाबाशी नहीं है किन्तु उसमें से स्वभाव लक्ष्यगत कर लिया, उसको सन्त, शाबाशी प्रदान करते हैं। वह अवश्य मोक्षमार्ग और मोक्ष प्राप्त करेगा - ऐसा सन्तों का आशीर्वाद है।

द्रव्यार्थिक-चौभङ्गी अर्थात् एक ही द्रव्य के आश्रय से उपादान-निमित्त सम्बन्धी चार प्रकारों का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब, पर्यायार्थिक चौभङ्गी अर्थात् भिन्न-भिन्न द्रव्यों के आश्रय से निमित्त-उपादान सम्बन्धी चार प्रकारों का वर्णन करते हैं।

अब, पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान की चौभङ्गी सुनो -

(1) वक्ता, अज्ञानी; श्रोता अज्ञानी। वहाँ निमित्त भी अशुद्ध, उपादान भी अशुद्ध।

(2) वक्ता, अज्ञानी; श्रोता ज्ञानी। वहाँ निमित्त अशुद्ध और उपादान शुद्ध।

(3) वक्ता, ज्ञानी; श्रोता, अज्ञानी। वहाँ निमित्त शुद्ध और उपादान अशुद्ध।

(4) वक्ता, ज्ञानी; श्रोता भी ज्ञानी। वहाँ निमित्त भी शुद्ध और उपादान भी शुद्ध।

इस प्रकार यह पर्यायार्थिकनय से उपादान-निमित्त की चौभङ्गी कही।

द्रव्यार्थिकनय के कथन में उपादान और निमित्त दोनों को एक ही वस्तु में घटित किया था, उसे ज्ञान और चारित्र का उदाहरण देकर समझाया था। इस पर्यायार्थिकनय के कथन में उपादान-निमित्त को दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में घटित किया है और उसे वक्ता तथा श्रोता का उदाहरण देकर समझाया है। श्रोता को उपादानरूप में और वक्ता को निमित्तरूप में उपस्थित किया है। जो वक्ता-श्रोता ज्ञानी हो, उसे शुद्ध कहा जाता है और अज्ञानी को अशुद्ध कहा जाता है।

(1) किसी समय वक्ता और श्रोता दोनों अज्ञानी हों, वहाँ निमित्त-उपादान दोनों अशुद्ध हैं। जहाँ अज्ञानी का विपरीत उपदेश चल रहा हो तो भी जिसको वह रुचे, वह श्रोता भी अशुद्ध उपादानवाला है; शुद्ध उपादानवाले जीव को ऐसा

विपरीत उपदेश नहीं रुचता, श्रोता होकर वह ऐसा उपदेश स्वीकार नहीं करता। अज्ञानी वक्ता ने खोटा उपदेश दिया; इसलिए श्रोता को खोटा ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है; श्रोता का उपादान ही वास्तव में ऐसा अशुद्ध था, जिसके कारण उसने ऐसे उपदेश को स्वीकार किया।

अरे! निमित्त और उपादान दोनों स्वतन्त्र, असहायी हैं; कोई किसी के आधीन नहीं – यह सिद्धान्त पहले से ही कहते आये हैं, वह सर्वत्र ही लागू पड़ेगा। किसी समय अज्ञानी, शास्त्रानुसार भी उपदेश देता हो और अज्ञानी सुनता हो, परन्तु स्वानुभव का सच्चा रहस्य उसमें नहीं आता; अतः मोक्षमार्ग का प्रसङ्ग नहीं बनता, क्योंकि उपादान-निमित्त दोनों अशुद्ध हैं; अर्थात्, दोनों अज्ञानी हैं।

(2) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वक्ता तो अज्ञानी हो और श्रोता, ज्ञानी हो, वहाँ निमित्त अशुद्ध है और उपादान शुद्ध है। देखो! निमित्त अशुद्ध है, तथापि वह उपादान में कुछ भी अशुद्धता नहीं करता है; दोनों स्वतन्त्ररूप में अपने-अपने भाव में परिणमन करते हैं। ज्ञानी जीव जहाँ-तहाँ तो अज्ञानी का उपदेश सुनने जाता नहीं, परन्तु कोई मुनि आदि हों, बाह्य व्यवहार ठीक हो, शास्त्रानुसार प्ररूपणा करते हो, अन्दर कोई सूक्ष्म मिथ्यात्व का प्रकार उनमें रह गया हो, कदाचित् दूसरों को उसका ध्यान भी न आवे और ज्ञानी उन मुनि आदि की सभा में बैठकर सुन रहा हो, वन्दनादि व्यवहार भी करता हो; वहाँ वक्ता, अज्ञानी है और श्रोता, ज्ञानी है।

शास्त्रानुसार शुद्धात्मा के अनुभवादि का कथन करता हो, परन्तु स्वयं को वैसी अनुभूति न हो और श्रोताओं में कोई ज्ञानी हो, उसको वैसा स्वानुभव हो गया हो – ऐसा बनता है।

शास्त्रानुसार प्ररूपणा होती हो, तब तो ज्ञानी उसे सुने; यदि शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा हो रही हो तो ज्ञानी श्रोतापने उसे नहीं सुनता; उसका नकार करता है। जो राग को मोक्षमार्ग मनावे, पराश्रय से धर्म मनावे, आत्मा का पर में कर्तृत्व मनावे, देह की जड़ क्रिया से धर्म मनावे; इस प्रकार की सीधी-सीधी विपरीत प्ररूपणा कोई अज्ञानी करता हो और उसके सुनने का प्रसङ्ग कदाचित् बन जाए तो ज्ञानी श्रोता उस बात को स्वीकार नहीं करता। इसमें उपादान शुद्ध है और निमित्त अशुद्ध है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखना है कि जो श्रोता, ज्ञानी है, उसको धर्म प्राप्त करते समय किसी अन्य ज्ञानी के पास से देशनालब्धि मिल चुकी है; अतः जिसके पास से देशनालब्धि प्राप्त हुई है, वही धर्म का निमित्त है। अज्ञानी के निमित्त से किसी जीव को देशनालब्धि प्राप्त हो जाए – ऐसा नहीं होता। धर्म पानेवाले ने एक बार तो ज्ञानी के पास से देशना सुनी ही हो – ऐसी अनादि परम्परा है। हाँ, ऐसा तो होता है कि अज्ञानी का उपदेश सुनते समय प्रथम प्राप्त देशनालब्धि के संस्कार जागृत हो जाएँ और उनके बल से जीव, धर्म प्राप्त कर ले। वहाँ वह उपादान की शुद्धि के बल से ही धर्म पाता है। इस तरह उपादान शुद्ध और निमित्त अशुद्ध होता है।

इस कथन से कोई ऐसा अभिप्राय निकाले कि निमित्त भले ही

चाहे जैसा हो, अपने को क्या बाधा ? चाहे जिसके पास से सुन लेंगे न ? अज्ञानी-कुगुरु-कुमति का भी उपदेश सुनने में अपनी कोई हानि नहीं है, तो उसकी बात ठीक नहीं है; वह महान भूल में है। भाई! तुझे ऐसे छोटे तत्त्व के श्रवण करने का भाव ही क्यों आया ? कुसङ्ग का भाव तुझे क्यों रुचिकर हुआ ? अरे ! तेरा उपादान अशुद्ध है। जैसा तेरा वक्ता... वैसा तू, दोनों एक से हैं अर्थात् वक्ता-श्रोता दोनों अज्ञानी हैं।

(3) जहाँ वक्ता, ज्ञानी हो और श्रोता, अज्ञानी, वहाँ निमित्त शुद्ध है और उपादान अशुद्ध है - यह तृतीय प्रकार तो सामान्यपने देखने में आता ही है। तीर्थङ्कर भगवान की सभा में तो बहुत जीव श्रोता होते हैं परन्तु वे सभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेते। इसी बात को भैया भगवतीदासजी उपादान-निमित्त के संवाद में इस प्रकार कहते हैं -

यह निमित्त इस जीव को, मिल्यो अनन्ती बार।

उपादान पलट्यो नहीं तो भटक्यो संसार ॥

देखो न ! निमित्तरूप में तो सर्वज्ञ जैसे वक्ता मिले और उनकी वाणी भी समवसरण में बैठकर सुनी, तथापि जिनका उपादान अशुद्ध था, वे जीव अज्ञानी ही रहे; निमित्त क्या करे ? अपने उपादान की तैयारी के बिना भगवान भी नहीं समझा सकते। शुद्धात्मा की एक ही बात ज्ञानी के पास एक साथ बहुत से जीव सुनें, उनमें से कोई तो समझकर अनुभव कर लेता है और कोई नहीं कर पाता। निमित्तरूप में एक ही वक्ता होने पर भी श्रोता के उपादान अनुसार उपदेश परिणमन करता है - ऐसी स्वतन्त्रता है। यहाँ

उत्कृष्ट ज्ञानी, वक्तरूप में तीर्थङ्करदेव का उदाहरण लिया। इसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान से लगाकर ऊपर के सभी ज्ञानी वक्ता समझ लेना चाहिए।

(4) जब वक्ता, ज्ञानी हो और श्रोता भी ज्ञानी हो, तब तो निमित्त भी शुद्ध है और उपादान भी शुद्ध है; ऐसा प्रकार भी देखने में आता है। तीर्थङ्कर भगवान की सभा में गणधर जैसे श्रोता विराजमान हों। अहो ! जगत में सर्वोत्कृष्ट वक्ता तीर्थङ्कर और सर्वोत्कृष्ट श्रोता गणधर देव। अहा ! इन वीतरागी वक्ता और श्रोता की क्या बात कहें ? जहाँ सर्वज्ञ जैसे वक्ता और चार ज्ञान के धारी श्रोता हों, उस सभा की दिव्यता की क्या कहें ? भगवान की वाणी एक समय में पूर्ण रहस्य उद्घाटित करती हुई निकलती है और गणधरदेव उसे झेलते-झेलते स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। भगवान की सभा में अन्य भी लाखों-करोड़ों ज्ञानी होते हैं तथा तिर्यञ्च भी वहाँ धर्म प्राप्त करते हैं। उपादान जागृत हुआ, उसकी क्या बात ? जहाँ उत्कृष्ट उपादान जागृत हो, वहाँ निमित्त भी उत्कृष्ट होता है; तथापि हैं दोनों स्वतन्त्र।

वक्तापना तो तेरहवें गुणस्थान में भी होता है परन्तु श्रोतापना छठवें गुणस्थान तक ही सम्भव है। पश्चात् ऊपर के गुणस्थानों में तो उपयोग निर्विकल्प होकर स्वरूप में स्थिर हो जाता है। वहाँ वाणी की ओर लक्ष्य नहीं रहता।

तीर्थङ्करदेव सर्वज्ञपरमात्मा से लेकर गणधरदेव, मुनिवर तथा चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव - ये सब ज्ञानी वक्ता हैं, शुद्ध निमित्त हैं और श्रोताओं में भी ज्ञानी होते हैं, वे शुद्ध उपादान

हैं। ज्ञानी, वक्ता हो और श्रोता भी ज्ञानी हो – ऐसे प्रसङ्ग विरलता से ही दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार वक्ता और श्रोतारूप निमित्त-उपादान के चार प्रकार कहे, इन सभी में उपादान-निमित्त दोनों की स्वतन्त्रता समझना तथा इसी दृष्टान्तानुसार भिन्न-भिन्न द्रव्यों में सर्वत्र उपादान-निमित्त – दोनों की स्वतन्त्रता समझ लेना और पराश्रयबुद्धि का अभाव करके स्वाश्रय द्वारा मुक्तिमार्ग को प्राप्त करना – यही इस कथन का तात्पर्य है। ●●

मुनिदशा की अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है। कोई कहे कि 'वस्त्र होवे तो क्या आपत्ति है क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है?'

इसका समाधान यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता, यह बात तो सत्य है परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गई है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ 144)

परम पूज्य आचार्य पूज्यपाद रचित

इष्टोपदेश गाथा 35

सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत्

यहाँ शिष्य आक्षेप करके कहता है – इस प्रकार अन्य की उपासना प्राप्त नहीं होती अर्थात् हे भगवन्! उक्त नीति अनुसार पर के गुरुपने का अभाव होने पर, मुमुक्षु को धर्माचार्यादि की सेवा प्राप्त नहीं होती। मुमुक्षु को धर्माचार्यादि सेवा करनेयोग्य नहीं रहते – ऐसा भाव है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने में अपसिद्धान्त का प्रसङ्ग आता है – ऐसा कहनेवाले शिष्य के प्रति उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं —

नाऽज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाऽज्ञत्वमृच्छति ।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ 35 ॥

अर्थात् जो पुरुष अज्ञानी है (अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अयोग्य है, वह) विज्ञ नहीं हो सकता और जो विशेष ज्ञानी है वह अज्ञानी नहीं हो सकता; जैसे, (जीव-पुद्गल की) गति में धर्मास्तिकाय निमित्तमात्र है; उसी तरह अन्य भी निमित्तमात्र (धर्मास्तिकायवत्) हैं।

टीका - भद्र! अज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अयोग्य अभव्यादि जीव, धर्माचार्यादि के हजारों उपदेश से भी विज्ञत्व को-तत्त्वज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता तथा कहता है कि —

(किसी कार्य की) उत्पत्ति में स्वाभाविकक्रिया और गुण की अपेक्षा रहती है। सैकड़ों व्यापारों से (प्रयत्नों से) भी बगुला, तोते की तरह पढ़ाया नहीं जा सकता।

इसी तरह विज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञान से परिणत जीव, हजारों उपायों से भी अज्ञानपने को प्राप्त नहीं होता अर्थात् तत्त्वज्ञान से परिभ्रष्ट नहीं होता।

तथा पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में कहा है कि जिसके भय से घबराकर दुनिया के लोग मार्ग छोड़ दें, यहाँ-वहाँ भाग जाएँ - ऐसा वज्र पड़ने पर भी प्रशमभाव सम्पन्न योगीजन, योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते तो जिन्होंने ज्ञानरूपी प्रदीप से मोहरूपी महान्धकार का नाश कर दिया है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव, शेष परीषहों के आने पर क्या चलायमान होंगे! (नहीं; वे कभी भी चलायमान नहीं होंगे।)

इस प्रकार तो बाह्य निमित्त उड़ जाएँगे (अर्थात् उसका निराकरण हो जाएगा) - ऐसा यहाँ कहते हैं।

अन्य अर्थात् गुरु तथा शत्रु आदि प्रकृत कार्य की उत्पत्ति में तथा नाश में निमित्तमात्र हैं, क्योंकि वहाँ योग्यता ही साक्षात् साधक है।

किसका कौन? जैसे 'गतेगित्यादि' से यहाँ कहते हैं, वैसे।

इसका अर्थ यह है कि जैसे कि युगपत् (एक साथ) भावी गतिरूप परिणाम के लिए उन्मुख पदार्थों की अपनी गमनशक्ति ही गति को साक्षात् उत्पन्न करती है, उनके विकलपने में (अर्थात् पदार्थों में गमन के प्रति उन्मुखता न हो, तब) उनमें किसी से (कुछ) करना अशक्य है (अर्थात् उनमें कोई गति उत्पन्न नहीं कर सकता)। धर्मास्तिकाय तो गति-उपग्राहकरूप (गति में निमित्तरूप) द्रव्यविशेष है, वह उसको (गति को) सहकारी कारणमात्र है। इस प्रकार प्रकृत में भी (इस विषय में भी) समझना। इसलिए व्यवहार से गुरु आदि की शुश्रूषा (सेवा) करनी योग्य है।

भावार्थ - ज्ञानी अथवा अज्ञानी बनने की योग्यता अपनी आत्मा में ही है। गुरु आदि तो बाह्य निमित्तमात्र हैं; वे किसी को ज्ञानी अथवा अज्ञानी नहीं बना सकते।

पदार्थों में परिणमन के लिए जो उन्मुख योग्यता होती है, उस रूप ही कार्य सम्पन्न (निष्पन्न) होता है, क्योंकि 'करणानुविधायी कार्याणि', अर्थात् कारण जैसे ही कार्य होते हैं। अन्य पदार्थ तो उसके परिणमन में निमित्तमात्र हैं। प्रत्येक पदार्थ की परिणमन उन्मुखता ही / क्षणिक उपादान ही कार्यरूप परिणमता है।

जीव और पुद्गल में गमन करने की शक्ति स्वयं है; इसलिए जिस समय वे अपनी क्रियावतीशक्ति से जिस प्रकार का परिणमन -उन्मुखता से गमन करते हैं, उस प्रकार से उस समय धर्मद्रव्य उनके गमन में निमित्तमात्र होता है। परिणाम के प्रति पदार्थों की उन्मुखता ही (उस समय की योग्यता ही) कार्य का साक्षात् उपादानकारण है।

गुरु, शिष्य को सिखाता है – यह व्यवहारनय का-निमित्त का कथन है, यानी कि शिष्य अपनी उपादानशक्ति से सीखे तो गुरु, निमित्तमात्र कहलाते हैं। यह कथन, कार्य की उत्पत्ति के समय अनुकूल कौन-सा निमित्त था, उसका ज्ञान कराकर, उस ओर का झुकाव छुड़ाने के लिए है – ऐसा समझना।

वस्तुतः कोई किसी को सिखा (समझा) नहीं सकता, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं; अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुणों की (पर्याय की) उत्पत्ति नहीं की जा सकती।

छहों द्रव्यों की अपनी विकारी अथवा अविकारीपर्यायों से सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र हैं। प्रेरक और उदासीन निमित्त उनके भेद को प्रकाशित करते हैं परन्तु उपादान के प्रति तो वे सदा धर्मास्तिकायवत् उदासीन निमित्तमात्र हैं।

गाथा 35 पर प्रवचन

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभु! आपने तो गुरु के उपदेश का श्रवण, गुरु की सेवा, सत्सङ्ग आदि सब का निषेध कर दिया, तब कोई किसी की सेवा नहीं करेगा, न गुरु के समीप ही कोई जाएगा और न उनकी सत्सङ्गति एवं सेवा ही करेगा और ऐसा होने से तो बहुत गड़बड़ हो जाएगी। अतः ऐसा कथन (आत्मा का गुरु, आत्मा ही है – गाथा 34 में कथित) उपयुक्त नहीं है — यह तो अप-सिद्धान्त है। ऐसा सुनकर तो सभी स्वच्छन्दी हो जाएँगे। ऐसे शिष्य को उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि —

न अज्ञ पाता, विज्ञता, ना विज्ञ पाता अज्ञता।

है अन्य मात्रनिमित्त, ज्यों, धर्मास्ति को गति में कहा ॥ 35 ॥

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदि जीवों को धर्माचार्यादिक हजार उपदेश दें, तथापि वे उसे धर्म प्राप्त नहीं करा सकते।

जिसे अन्तर में आत्मा को समझने की दरकार ही नहीं है, पात्रता नहीं है, पर से भिन्नतारूप वैराग्य और स्वभाव की अस्ति की रुचि नहीं है, उसका गुरु क्या कर सकते हैं? जिसके पेट में जहर व्याप्त हो, उसे दूध पिलाने पर भी जहर उतरता नहीं है उल्टे दूध भी जहररूप परिणत हो जाता है; उसी प्रकार जिसके अन्तरङ्ग में पर की रुचि पड़ी हुई है — ऐसे जीव को गुरु भी आत्मा की रुचि कराने में समर्थ नहीं हैं।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए स्वाभाविकगुण की अपेक्षा होती है; अन्य कोई अनुकूल निमित्त उस कार्य के कर्ता नहीं हो सकते। जैसे, तोते में पढ़ने की योग्यता होने के कारण पढ़ाने पर वह पढ़ता है, किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी बगुले को पढ़ाना शक्य नहीं है; क्योंकि उसमें ऐसी योग्यता नहीं है।

जैसे, स्वयं गतिरूप परिणत जीव-पुद्गलों को धर्मद्रव्य निमित्त है; उसी प्रकार जीव, स्वयं अपनी पात्रता से सम्यग्दर्शन, ज्ञानरूप परिणत होता है, तब गुरु इत्यादि को निमित्त कहा जाता है। कार्य तो अपने स्वाभाविकगुण के पुरुषार्थ से ही होता है; निमित्त से नहीं।

इस प्रकार स्वयं की पात्रता के बिना कोई भी गुरु के उपदेश से

धर्मरूप परिणमित नहीं होता अर्थात् अज्ञानी को ज्ञान नहीं कराया जा सकता और न ही किसी तत्त्वज्ञानी को अज्ञानी किया जा सकता है।

कोई अज्ञानी ऐसा माने कि मैं ऐसी बात करता हूँ, जिससे ज्ञानी भी अज्ञानी हो जाता है, तो यह त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। कारण कि अपने पुरुषार्थ द्वारा जो बात सम्यक्श्रद्धा में बैठी हो, उसे करोड़ों उपायों द्वारा भी बदला नहीं जा सकता।

भाई! यहाँ तो स्वतन्त्रता का शंखनाद है। तीन काल में भी कोई ज्ञानी के ज्ञान को अज्ञान नहीं कर सकता और अज्ञानी को ज्ञानी नहीं कर सकता। यदि अपनी योग्यता से ही समझे और श्रद्धा करे तो उसे कौन रोक सकता है और अपनी विपरीतता से विपरीत श्रद्धा करे तो उसे भी कौन रोक सकता है?

यहाँ पद्मनन्दि पञ्चविंशति का आधार दिया गया है कि ऐसा कोई महावज्रपात हो अथवा निन्दा के प्रहार पड़े, जिसके भय से घबराकर सम्पूर्ण जगत मार्ग छोड़कर यत्र-तत्र भटकने लगे, तथापि ऐसे वज्रपात से भी अतुल शान्ति सम्पन्न योगीगण ध्यान से विचलित नहीं होते। सम्पूर्ण दुनिया में कौलाहल हो जाए, तथापि मुनिराज अपनी एकाग्रता से विचलित नहीं होते; अतः ज्ञानी को कोई अज्ञानी नहीं कर सकता।

इस गाथा में 'गुरु से ज्ञान होता है' — ऐसा व्यवहारपक्ष कमजोर पड़ जाता है — ऐसी शिष्य की आशंका है; किन्तु वस्तुतः जिसे निश्चय प्रगट हो, उसे गुरु के बहुमानादि के भावरूप व्यवहार आये बिना रहता ही नहीं है — यह बात आगे कही जाएगी। निश्चय के साथ बीच में (भूमिकानुसार) व्यवहार आता ही है।

जैसे, स्वयं गति करते हुए जीव-पुद्गलों को धर्मास्तिकाय निमित्त होता ही है; इसी प्रकार स्वयं पुरुषार्थ करते हुए जीव को गुरु का निमित्त होता ही है और उस पुरुषार्थी जीव को गुरु का बहुमान-विनय आदि का भाव भी होता ही है।

यह 35 वीं गाथा भी बहुत उत्कृष्ट है। इसी गाथा के आधार से हम पहले से ही कहते आये हैं कि सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं — ऐसा इष्ट उपदेश आचार्य पूज्यपाद ने किया है। निमित्त से होता है अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता — यह उपदेश इष्ट नहीं है; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा नहीं है।

चैतन्य हीरा चैतन्यप्रकाश से भरा हुआ है, उसके ज्ञान प्रदीप से — ज्ञान दीपक के प्रकाश से मोहरूप मिथ्या अन्धकार का नाश हो जाता है। गुरु के उपदेश से, मन्द कषाय से अथवा कर्मों के अभाव के कारण मिथ्या अन्धकार नष्ट नहीं होता; एकमात्र ज्ञानसूर्य के प्रकाश से ही मोहान्धकार नष्ट होता है।

भगवान आत्मा में तो ज्ञान और आनन्द का ही साम्राज्य है। वीर्य, अपना प्रताप-बादशाही जागृत रखता है, उस वीर्य के साम्राज्य में अन्य का प्रवेश असम्भव है। स्वयं ज्ञान, आनन्द, सुख, वीर्य स्वरूप प्रभु है, उसे सुख की खोज के लिए बाह्य शरीरादि में जाना पड़े — ऐसा नहीं है, तथापि भ्रम के कारण जीव 'शरीर में सुख, तो सब प्रकार से सुखी' — ऐसी मिथ्या कल्पना करता रहता है, किन्तु जिसने ज्ञानदीप द्वारा इन मिथ्या कल्पनाओं का अभाव कर दिया है, उसे उसकी श्रद्धा को विचलित करने में कोई समर्थ नहीं है।

जिसे अन्दर से श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द का बल है, उस पर बाह्य में अग्नि की वर्षा अथवा वज्रपात अथवा निन्दा के प्रहार होने पर भी, वह अपने श्रद्धा, ज्ञान से चिचलित नहीं होता, किन्तु अन्दर के बल से रहित अज्ञानी ऐसी दशा में भयभीत होकर भागने लगता है।

यहाँ किसी को प्रश्न हो कि इसमें तो निमित्तों का निराकरण हो जाता है अर्थात् 'निमित्त बिना चले नहीं और निमित्त हो तभी कार्य हो' — इस बात का तो इसमें खण्डन हो जाता है ?

उसके उत्तर में यहाँ मुनिराज कहते हैं कि अपने हित-अहितरूप कार्य में गुरु तथा शत्रु आदि तो निमित्तमात्र हैं। चैतन्यप्रभु स्वयं ही स्वयं को शरणरूप है, हितरूप है — ऐसी स्थिति में गुरु क्या हित करें ? और स्वयं ही अपने अज्ञानभाव से शत्रुभाव उत्पन्न करता है, वहाँ शत्रु क्या करें ? गुरु और शत्रु आदि तो निमित्तमात्र हैं।

प्रकृत कार्य के उत्पाद तथा विध्वंस में अन्य द्रव्य तो मात्र निमित्त हैं। वास्तव में किसी भी कार्य के होने अथवा बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक है।

पञ्चाध्यायी में एक श्लोक आता है कि 'प्रत्येक द्रव्य सत् है।' स्वयं से बिगड़ता और स्वयं से सुधरता है, उसमें उसे अन्य किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। कुसङ्ग से बिगड़ता है और सत्सङ्ग से सुधरता है — यह व्यवहार का कथन है। कुम्हार से घड़ा बनता है और सुरक्षित नहीं रखने से वह फूट जाता है — यह बात मिथ्या है। प्रत्येक कार्य अपनी स्वयं की योग्यता से ही होता है। ये सब बातें दुनियाँ की मान्यता से विपरीत हैं। जैसी हैं, वैसी समझना पड़ेगी।

किसी भी पदार्थ के कार्य में अर्थात् पर्याय के परिवर्तन के काल में अपनी योग्यता न हो तो अन्य कोई उस कार्य को कर नहीं सकता। जीव के विकारी अथवा अविकारी, किसी भी भाव के कार्यकाल में जीव की अपनी स्वाभाविक योग्यता न हो तो निमित्त कुछ भी नहीं कर सकता।

इस बात को सिद्ध करने के लिए अभव्य जीव का दृष्टान्त दिया है कि अभव्य जीव को कितना ही समझाओ, परन्तु उसमें समझने की योग्यता ही नहीं है तो निमित्त उसमें क्या करेगा ? और धर्मी जीव को धर्म से विचलित करने के लिए कोई लाख प्रयत्न करे, तथापि वे विचलित नहीं होते; इसलिए कहा है कि वस्तुतः निमित्त कुछ करता ही नहीं। जो उपादान के कार्य काल में उपस्थित हो, उसे निमित्त कहा जाता है।

यहाँ शिष्य को आशङ्का होती है कि आप ऐसा कहते हैं, इससे तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जाता है अर्थात् निमित्त का कुछ भी प्रभाव नहीं रहता, उसका तो खण्डन हो जाता है, तब फिर गुरु से ज्ञान होता है, शत्रु से नुकसान होता है, यह बात तो रही ही नहीं ?

शिष्य की इस शङ्का का परिहार करते हुए गुरु कहते हैं कि हाँ, ऐसा ही है। यदि गुरु से ज्ञान होता हो तब तो अभव्य को भी सम्यग्ज्ञान होना चाहिए और निमित्त से नुकसान होता हो तो ज्ञानी को भी अज्ञानी किया जा सकना चाहिए, किन्तु ऐसा तो होता ही नहीं है।

यद्यपि गुरु से ज्ञान नहीं होता, तथापि गुरु की महत्ता इतनी ही

है कि जब शिष्य को अपने उपादान से ज्ञान होता है, तब उसे गुरु का बहुमान आये बिना रहता नहीं है। निश्चय हो, वहाँ व्यवहार आये बिना रहता ही नहीं है — ऐसी ही वस्तुस्थिति है, किन्तु व्यवहार हो तो निश्चय होता है — यह बात तो सम्पूर्णतः सिद्धान्त विरुद्ध है।

जीव अथवा अजीव, किसी भी पदार्थ का वास्तविक कारण एक ही है। निश्चय ही वास्तविक कारण है; व्यवहार तो आरोपित कारण है।

निमित्त भी एक पदार्थ है, परन्तु उपादान का कार्य उससे नहीं होता। किसी भी पदार्थ की प्रत्येक पर्याय अपने काल में अपने से होती है, संयोगों द्वारा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। **अहो! आचार्यों ने समय-समय की योग्यता का कितना वर्णन किया है!!**

गुरु ने जो कहा है, उसे सही समझकर शिष्य प्रश्न करता है कि निमित्त कुछ नहीं करता तो फिर निमित्त का तो खण्डन हो जाता है? इसका समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि किसी भी वस्तु के प्रकृत कार्य में अर्थात् होने योग्य कार्य में — उत्पाद में अथवा विध्वंस में बाह्य वस्तु निमित्तमात्र है।

जीव, विकार करता है, वह अपनी ही योग्यता से करता है; कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। इसी प्रकार शरीर में आप्रेशन आदि क्रिया, उसकी पर्याय के स्वकाल में स्वयं से ही होती है, उसमें औजार आदि साधन तो निमित्तमात्र हैं; उनसे आप्रेशन का कोई कार्य नहीं होता।

वस्तु की स्थिति ही ऐसी है कि उसमें दूसरा रज्ज्वमात्र भी

परिवर्तन — फेरफार नहीं कर सकता। वस्तु, प्रतिसमय परिणमन करती है, उसे अन्य कोई परिणामा नहीं सकता। आत्मा और परमाणु आदि सभी पदार्थ स्वतन्त्र द्रव्य हैं—वस्तु हैं; प्रत्येक समय पलटना (परिणमना) उनका स्वभाव है; अतः वे पलटते ही हैं, अन्य अर्थात् दूसरा उन्हें क्या पलटायेगा?

वस्तु, नित्य-ध्रुव रहकर उसमें उत्पाद-व्यय होना — यह प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है, अतः उत्पाद भी स्वयं से होता है और व्यय भी स्वयं से होता है। इस कारण यहाँ पर कहा है कि वास्तव में किसी भी कार्य के होने अथवा बिगड़ने में अर्थात् उत्पाद-व्यय में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है; जैसे, एक साथ गतिरूप परिणमन के लिए तैयार हुए जड़-चेतन में गति उत्पन्न करनेवाली उनकी स्वयं की क्रियावतीशक्ति ही है।

वस्तु में जो पर्याय होना होती है, वस्तु की उन्मुखता भी उसी तरफ होती है; अन्य तरफ नहीं। अपनी योग्यतानुसार ही कार्य होता है, तब सहकारी निमित्त होते हैं, तथापि उन निमित्तों के कारण कार्य नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि जब तुम दूसरों को समझाते हो तभी तो दूसरे समझते हैं — ऐसा तुम्हारा हेतु (कारणपना) होता है; तब निमित्त कुछ नहीं करता — यह बात कहाँ रहती है और न ही क्रमबद्ध रहता है?

समाधान यह है कि भाई! वाणी तो, वाणी के स्वकाल में परिणमित होती है; आत्मा उसे परिणमित नहीं करता। वाणी तो अनन्त पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड है, उसे आत्मा किस

प्रकार परिणमावे ? पुद्गल के परमाणु वाणीरूप परिणमने के लिए तत्पर होते हैं, उन्हें आत्मा रोक नहीं सकता। भाई! यह तो जिन्हें पर के अभिमान से छूटकर स्वसन्मुख होना हो, उसके लिए बात है। मेरे समझाने से दूसरे समझते हैं — इस बात में रञ्चमात्र भी दम नहीं है।

जिस द्रव्य में, जिस समय, जिस पर्याय का स्वकाल है; उस समय, वह द्रव्य, उस पर्याय की उन्मुखता से बर्तता है। इसमें (1) उपादान, (2) निश्चय, एवं (3) क्रमबद्ध — तीनों आ जाते हैं। उपादान के साथ निमित्त एवं निश्चय के साथ व्यवहार होने पर भी, वे कुछ कार्य नहीं करते।

प्रश्न — यदि गुरु से शिष्य नहीं समझता, तो गुरु का माहात्म्य क्या ?

उत्तर — इसी में गुरु का माहात्म्य है। सत्, सत् से होता है — ऐसा स्वीकार करने पर ही शिष्य को गुरु का बहुमान आता है — यह व्यवहार है। निश्चय से अपनी तथा व्यवहार से गुरु की महिमा है।

जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करते हैं, तब धर्मद्रव्य निमित्त होता है। यदि धर्मद्रव्य गति कराता हो तो आकाश को भी वह गति करा दे, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

जीव और पुद्गल में स्वयं गति करने की सामर्थ्य है; अतः वे गति करते हैं और उसमें धर्मद्रव्य को हस्तावलम्ब तुल्य देखकर गति में सहायक कहा है — इस कारण जीव-पुद्गल के गति काल में धर्मद्रव्य को सहकारी कारण कहा है। इसी प्रकार शिष्य

स्वयं समझ करने के उन्मुख है, तब समझनेवाले गुरु को सहकारी कारण अर्थात् निमित्त कहा जाता है।

निश्चय से तो अपना आत्मा ही अपना गुरु है, किन्तु व्यवहार से गुरु निमित्त है; अतः गुरु की सेवा इत्यादि करना चाहिए। शिष्य का मिथ्याभाव परिवर्तित होकर धर्म प्रगट हो, तब देव, शास्त्र, गुरु, जिनप्रतिमा, साधर्मी आदि जो कोई निमित्त होते हैं, उनके प्रति शिष्य को विनय, बहुमान, भक्ति इत्यादि का भाव आता है।

लोगों को ऐसा लगता है कि प्रत्यक्ष देखते हैं कि अग्नि हो तभी पानी गर्म होता है; बर्फ डालने पर ही वह ठण्डा होता है; बाई हो तभी रोटी बनती है; गुरु हो तभी ज्ञान होता है और आप कहते हैं कि निमित्त से कुछ नहीं होता ?

समाधान यह है कि भाई! तुझे निमित्ताधीन दृष्टि के कारण ही ऐसा प्रतिभासित होता है। वस्तुतः तो द्रव्य के अपने उपादान के काल में ही पर्याय होती है और व्यय के काल में व्यय होती है, तब अनुकूल निमित्तों की उपस्थिति भी होती है, किन्तु वे मात्र निमित्त ही होते हैं, वस्तु में वे कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते। इस एक नियम की सही समझ से ज्ञान में वस्तु की स्वतन्त्रता स्थापित हो जाती है। ●●



परम पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द रचित
समयसार गाथा 100

आत्मा, निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी...!

अब, कहते हैं कि आत्मा, व्याप्यव्यापक भाव से ही नहीं, किन्तु निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दब्बे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ 100 ॥
जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ 100 ॥
जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे ।
उपयोगयोग निमित्तकर्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥ 100 ॥

अर्थात् जीव, घट को नहीं करता, पट को नहीं करता, शेष कोई द्रव्यों को नहीं करता, परन्तु जीव के योग और उपयोग घटादि को उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं, उनका कर्ता जीव होता है।

टीका - वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं, उन्हें आत्मा, व्याप्यव्यापकभाव से नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसङ्ग आ जाए तथा वह

निमित्तनैमित्तिकभाव से भी (उनको) नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व का अर्थात् सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का प्रसङ्ग आ जाएगा। अनित्य अर्थात् जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके अर्थात् परद्रव्यस्वरूप कर्म के कर्ता हैं। (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को और (आत्मप्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।

भावार्थ — योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना - जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिक के निमित्त हैं। इसलिए उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्ता कहा जाए तो कही जाए, परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा को संसार-अवस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय, किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है; इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम, अन्य द्रव्य के परिणामों के निमित्तकर्ता कहलाते हैं। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है; अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं होता।

गाथा एवं टीका पर प्रवचन

आत्मा घड़े की अवस्था को नहीं करता, खिचड़ी की अवस्था को नहीं करता, शरीर की अवस्था को नहीं करता, वस्त्र की अवस्था को नहीं करता, अन्य किसी भी परवस्तु की अवस्था को नहीं करता, परन्तु योग अर्थात् योगगुण की कम्पनदशा और उपयोग अर्थात् इच्छा-विकल्परूप विकारीभाव अर्थात् अशुद्ध उपयोग, उसका अज्ञानी कर्ता है और योग तथा उपयोग परवस्तु की अवस्था में निमित्त है। यहाँ योग का अर्थ बाह्य के जड़योग नहीं समझना चाहिए, परन्तु चैतन्य के प्रदेशों में चञ्चलतारूप कम्पन समझना चाहिए।

जो योग और इच्छा का कर्ता होता है और जिसका लक्ष्य पर के ऊपर है, वह ऐसा मानता है कि मैं पर का निमित्तरूप से कर्ता हूँ। वस्तु अखण्ड है — ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है, वह निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है; वस्तु कर्ता नहीं है, इस कारण वस्तु की दृष्टिवाला भी कर्ता नहीं है अर्थात् सम्यग्दृष्टि निमित्तरूप से भी पर का कर्ता नहीं है। आत्मवस्तु स्वतः घट-पटादि होने में निमित्त नहीं है, परन्तु अज्ञानी की वृत्ति निमित्त है। घट करूँ, पट करूँ; उस वृत्ति का अज्ञानी कर्ता होता है, इससे अज्ञानी की रागवृत्ति घट-पट होने में निमित्त मानी है, परन्तु ज्ञानी, राग की वृत्ति का स्वामी या कर्ता नहीं होता और उस वृत्ति को अपना नहीं मानता, उसे अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट हुई है; अतः ज्ञानी परवस्तु की अवस्था का कर्ता नहीं है।

वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म

है, उसे आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से तो नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसङ्ग आये और निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व का अर्थात् सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व रहने का प्रसङ्ग आ जाए।

आत्मा घट-पटादि को और क्रोधादिक परद्रव्य को व्याप्य-व्यापकभाव से तो करता ही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा करे तो पर में तन्मय हो जाए, परन्तु निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता; यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व बना रहे, वह कभी दूर न हो।

आत्मवस्तु स्वतः परद्रव्य की कर्ता नहीं है, परन्तु योग और इच्छा परवस्तु की अवस्था होने में निमित्त है, किन्तु ज्ञानी योग और इच्छा का कर्ता नहीं है; इसलिए ज्ञानी परवस्तु की अवस्था का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। वस्तु स्वतः तो कर्ता नहीं है, परन्तु वस्तु की दृष्टिवाला भी निमित्तरूप से कर्ता नहीं है।

अनेक लोग कहते हैं कि मकान की, घट-पट की, भोजनादिरूप परद्रव्यों की अवस्था में आत्मा एकमेकरूप से प्रविष्ट होकर कर्ता नहीं होता, किन्तु निमित्तरूप से तो कर्ता होता है न? भाई! यदि द्रव्य कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व रहे; इसलिए द्रव्य कर्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानी अहङ्कारवश मानता है कि द्रव्य का विकारी उपयोग और कम्पन — ये दोनों विकारी पर्यायें, परद्रव्य की अवस्था होने में निमित्तरूप से कर्ता हैं, परन्तु उस योग-उपयोग का अज्ञानी कर्ता होता है, ज्ञानी नहीं। इसलिए जिस प्रकार आत्मा कर्ता नहीं है; उसी प्रकार आत्मा की दृष्टिवन्त ज्ञानी भी परद्रव्य की अवस्था का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

आत्मा की दृष्टिवाले के विकारी अवस्था होती हो, कम्पन और इच्छा होते हों, तथापि वहाँ उनका वजन नहीं है अर्थात् मुख्यता नहीं है; नित्य स्वभाव पर ही वजन है, वस्तुदृष्टि पर ही वजन है; विकारीपर्याय पर वजन नहीं है। ज्ञानी, विकारीदशा को अपनी पर्याय नहीं मानते; इसलिए वे परवस्तु के कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं हैं।

वस्तु स्वयं तो निमित्तरूप से कर्ता नहीं है, परन्तु विकारी पर्याय निमित्तरूप से कर्ता है। अज्ञानी ने विकारी पर्याय का कर्तृत्व स्वीकार किया है और विकारीपर्याय का झुकाव परसन्मुख है, इस कारण अज्ञानी, निमित्तरूप से कर्ता है, परन्तु ज्ञानी, कर्ता नहीं है।

वस्तु तो नित्य / स्थायी है; यदि वस्तु स्वतः कर्ता हो तो पर का कर्तृत्व कभी दूर ही न हो और पर का कर्तृत्वभाव अपना स्वभाव हो जाए; इसलिए वस्तु स्वयं पर की कर्ता नहीं है।

सम्यक्त्वी स्त्री रसोई बना रही हो तो भी वह रसोई की निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं होती, क्योंकि नित्य वस्तु स्वतः कर्ता नहीं है और नित्य आत्मवस्तु की दृष्टि होने से अनित्य इच्छा का स्वामित्व नहीं है, कर्ताबुद्धि नहीं है, इस कारण वह निमित्तरूप से भी पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करती। अपनी पर्याय में राग होता है, वह राग की पर्याय निमित्त है, परन्तु उस राग पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है, ज्ञानी उसका कर्तृत्व स्वीकार नहीं करता, स्वामीपना स्वीकार नहीं करता, उसे तो अपने अखण्ड स्वभाव की दृष्टि है। शुद्धद्रव्य, कर्ता नहीं है; अतः शुद्धदृष्टि भी कर्ता नहीं है — ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

यदि (ज्ञानी) कुम्हार हो तो वह भी घड़े का कर्तृत्व निमित्तरूप से भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि वस्तु पर है। ज्ञानी जानते हैं कि योग और इच्छा मेरे हैं ही नहीं; इसलिए मैं निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं हूँ।

यदि वस्तु कर्ता हो तो निमित्तरूप से कर्तृत्व कभी नहीं छूटेगा, इस कारण नित्य कर्तृत्व का प्रसङ्ग आयेगा। यदि वस्तु निमित्तरूप से कर्ता हो तो केवलज्ञानी भी कर्ता बने रहेंगे और इस कारण कभी भी कर्तृत्व नहीं छूट सकेगा।

ज्ञानी मानते हैं कि शरीर, मन, वाणी, घट, पटादि समस्त परवस्तुओं के हम उपादानरूप से तो कर्ता नहीं हैं, किन्तु निमित्तरूप से — व्यवहार से भी कर्ता नहीं हैं। हम स्व-पर को जानते अवश्य हैं, परन्तु उसके कर्ता नहीं हैं।

ज्ञानी के योग अर्थात् प्रदेशों का कम्पन और इच्छा होते हैं, परन्तु वह इनका कर्ता नहीं है, स्वामी नहीं है; इसलिए वह वस्तुदृष्टि से परवस्तु का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। अज्ञानी जीव, अपने भाव में योग और उपयोग का कर्ता है; अतः वह निमित्तरूप से परवस्तु का कर्ता है — ऐसा उपचार से कहा है। इसमें ज्ञानी और अज्ञानी का सारा कार्य आ जाता है।

अनित्य अर्थात् जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते — ऐसे योग और उपयोग ही निमित्तरूप से परद्रव्यस्वरूप कर्म के कर्ता हैं। कदाचित् आत्मा अज्ञान से रागादि विकारवाले चैतन्यपरिणामरूप अपने विकल्प को और आत्मा के प्रदेशों के चलनरूप अपने व्यापार को करता होने के कारण, योग और उपयोग का तो आत्मा

भी कर्ता (कदाचित्) भले हो, तथापि परद्रव्यरूप कर्म का कर्ता तो निमित्तरूप से—व्यवहार से भी कभी नहीं है।

यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व का प्रसङ्ग आए, परन्तु वस्तु कर्ता नहीं है, अपितु अनित्य योग और उपयोग ही निमित्तरूप से परद्रव्यस्वरूप कर्म के कर्ता कहे गये हैं। जो अनित्य हैं, क्षणिक हैं, वर्तमान क्षणपर्यन्त हैं — ऐसे योग और उपयोग ही परद्रव्य के निमित्तरूप से कर्ता हैं — ऐसा उपचार-व्यवहारनय का कथन है।

अज्ञान से आत्मा, योग और उपयोग का कर्ता तो कदाचित् भले हो, तथापि परवस्तु का कर्ता तो आत्मा निमित्तरूप से भी कभी नहीं है।

अज्ञानी, परवस्तु को व्याप्य-व्यापकभाव से तो नहीं करता, परन्तु वह कर्तृत्वबुद्धिवान होने से उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; इस कारण निमित्तरूप से कर्ता कहा है; उसे नित्य ज्ञानमात्र स्वरूप में दृष्टि नहीं है और इच्छा तथा योग पर दृष्टि है; अतः परवस्तु का कर्तृत्व स्वतः निमित्तरूप से स्वीकृत कर लेता है। मैं नित्य चिदानन्दस्वरूप निर्विकार हूँ — ऐसा नहीं मानता है; इसलिए परवस्तु का कर्तृत्व निमित्तरूप से स्वीकृत कर लेता है।

आत्मा किसे कहा जाए? क्या वर्तमान योग और इच्छा जितना ही आत्मा कहलाता है?

नहीं; आत्मा योग और इच्छा जितना नहीं है, वह तो योग और इच्छा से रहित वीतरागता, अचल-अयोगपना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल इत्यादि अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड है। ऐसा आत्मा यदि

निमित्तरूप से भी पर का कर्ता हो तो उसका निमित्तरूप से कर्तृत्व तीन काल में कभी भी नहीं छूटेगा।

ज्ञानी जानता है कि मैं स्व और पर का ज्ञाता हूँ, परन्तु कर्ता नहीं हूँ। परवस्तु का उपादानरूप से तो कर्ता नहीं, किन्तु निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं हूँ। अज्ञानी की दृष्टि पर के ऊपर है, अतः वह निमित्तरूप से पर का कर्तृत्व स्वीकार करता है। नित्य स्थायीरूप से नहीं रहनेवाली — ऐसी कम्पन और इच्छा की विभावपर्याय, जब परवस्तु की अवस्था होनेवाली हो, तब निमित्तरूप है। जो कम्पन और इच्छा का स्वामी होता है, वह ऐसा मानता है कि परवस्तु की अवस्था के समय मैं उपस्थित था। यद्यपि कम्पन और इच्छा, अपना स्वभाव नहीं हैं, तथापि वह उन्हें अपना मान लेता है; इस प्रकार पर्यायबुद्धि-मूढ़जीव घट-पटादि का निमित्तकर्ता मैं हूँ — ऐसा स्वयं मान लेता है।

दाल-रोटी बनाने में, कपड़े पहिने में, कपड़े बनाने में योग और उपयोग निमित्तरूप से कर्ता हैं — ऐसा अज्ञानी मानता है।

प्रश्न — यह बात समझ में न आये तो बहुत भ्रम रह जाता है?

उत्तर — हाँ, बहुत भ्रम रह जाता है। इस बात की समझ ही भ्रम के अभाव का मूल उपाय है और नासमझ ही अनन्त संसारदुःख के कारणरूप भ्रम रहने का मूल है।

अज्ञानी ने राग और कम्पन को अपना माना है; अतः आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि अपने विकल्प और कम्पन का कदाचित् अज्ञान से कर्ता है। अज्ञानी ने राग को करने योग्य माना है अर्थात् अपना माना है; इस कारण आचार्यदेव ने 'अपना विकल्प' —

ऐसा शब्द लिया है, परन्तु वास्तव में विकल्प अपना नहीं है; क्योंकि वह नित्यस्वभाव में नहीं है। जो राग को अपना मानता है, वह पराधीनतारूप पराश्रय की श्रद्धा रखता है, वह 'यह वस्तु मैंने की है' — ऐसा मानता है।

कोई कहे कि किसी अच्छे कार्य में बुद्धिमान-चतुर मनुष्य हो तो अन्तर पड़ता है न? भाई! तू भले मिथ्याभिमान कर, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; जैसा होना हो वैसा ही होता है।

कोई भी घट, पट, पुस्तक, मकान या व्यावहारिक कार्य आदि परवस्तु की अवस्था उसके अपने कारण से होती है, परन्तु जो साथ उपस्थित होता है, वह मानता है कि मैं इन सबका कर्ता हूँ, वह अज्ञानी है।

प्रश्न — यह धर्म कहलाता है ?

उत्तर — हाँ; यह धर्म कहलाता है। इसे समझने से ही सच्चा धर्म होता है। इसमें एक भी उल्टी-सीधी अपेक्षा मिलाये तो मिथ्यात्व होता है। निमित्त से कथन हो, वह अलग बात है और निमित्त से कार्य होना मानना अलग बात है।

शिष्य, गुरु से कहे कि अहो प्रभु! आपने मेरा परम उपकार किया है, मुझे आपने कृतार्थ कर दिया, आपने मुझे तार दिया; इस प्रकार अपने गुणों की पर्याय प्रगट करने के लिए विनय और भक्ति से कहता है, व्यवहार में गुरु के प्रति विनय और नम्रता करता है, गुरु के गुणों का बहुमान करता है और निश्चय से अपने पूर्ण स्वभाव के प्रति विनय, नम्रता और बहुमान करता है।

अभी अपूर्णता है; अतः व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि के

गुणों का बहुमान आए बिना नहीं रहता, स्वयं को पूर्णता चाहिए है, निश्चय में अपने को पूर्ण स्वभाव का बहुमान है; अतः व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र का बहुमान आए बिना नहीं रहता। देव, गुरु गुण में विशेष हैं — ऐसा समझकर सामनेवाले पर आरोप करके कहता है कि आपने मुझे तार दिया, वह अलग बात है, परन्तु यदि वैसा मान बैठें तो मिथ्या है।

अज्ञानी के इच्छा है; उसी प्रकार ज्ञानी को भी जहाँ तक अपूर्णता है, वहाँ तक इच्छा तो है, परन्तु उस इच्छा को ज्ञानी अपना मानते ही नहीं; इसलिए ज्ञानी की वह इच्छा नष्ट होने के लिये है। इच्छा, राग, द्वेषादि भावों का कर्ता चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में नहीं है; इसलिए ज्ञानी जीव, परवस्तु का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

जहाँ तक अनित्य पर्यायबुद्धि द्वारा अपने में राग और कम्पन मानता है, वहाँ तक वह धर्म का अज्ञान जीव, राग और योग का कर्ता तो कदाचित् भले ही हो, परन्तु परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो निमित्तरूप से भी नहीं है।

टीका में आचार्यदेव ने पहले कहा कि आत्मा कर्ता नहीं है और पश्चात् कहा कि अज्ञानी आत्मा कर्ता भले हो। कर्ता तो अवस्था है; कहीं द्रव्यकर्म का कर्ता आत्मा नहीं है, परन्तु आत्मा की विकारी अवस्था, द्रव्यकर्म की अवस्था होने में निमित्तमात्र है। अज्ञानी आत्मा तो वास्तव में योग और उपयोग का कर्ता है; जड़ का कर्ता नहीं है परन्तु राग और योग का कर्तृत्व मानता है; इस कारण ही अज्ञानी आत्मा को कर्ता कहा जाता है; किन्तु वास्तव में

तो जिसने राग और योग को अपना माना, वह आत्मा ही नहीं है; अनात्मा है।

जिस प्रकार ज्ञानी, घड़ा बनाने में निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है; उसी प्रकार घड़ा फोड़ने में भी निमित्तरूप से कर्ता नहीं है — ऐसा समझ लेना चाहिए। अज्ञानी, घड़े को फोड़ने का भी कर्ता होता है। ज्ञानी, युद्ध में खड़ा हो, तथापि योग और इच्छा का कर्ता नहीं होता। मैं युद्ध का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं हूँ — ऐसा वह मानता है। मैं तो ज्ञायक हूँ, ज्ञाता-दृष्टा रहनेवाला हूँ और ज्ञाता-दृष्टारूप साक्षीभाव का ही कर्ता हूँ — ऐसा ज्ञानी मानते हैं।

योग अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों का चलन और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ युक्त होना-जुड़ जाना। यह योग और उपयोग, घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्त हैं, इस कारण उन्हें तो घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्ता कहा जाता है परन्तु जीवद्रव्य को अनित्य विकार का कर्ता नहीं कहा जाता, किन्तु संसार-अवस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि क्रोध और कम्पन मैं हूँ, इससे वह ऐसा स्वीकार करता है कि घटादिक का मैं निमित्तरूप से कर्ता हूँ, परन्तु भगवान् आत्मा परवस्तु का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं कहलाता। आत्मा स्वयं कर्ता नहीं है, इस कारण आत्मदृष्टिवन्त भी कर्ता नहीं है।

संसारदशा में अज्ञान अवस्था के कारण निमित्तरूप से कर्तृत्व स्वीकार किया है। संसार तो चतुर्थ से चौदहवें गुणस्थान तक भी

है, तथापि वह संसार अपने कारण से नहीं, किन्तु पर के कारण है अर्थात् अपनी विकारी पर्याय के कारण है।

आत्मा के स्वभाव में तो संसार है ही नहीं। जैसा स्वभाव है तदनुसार-यथावत् जानकर श्रद्धा की और अनुभव किया, उस स्वभावदृष्टिवन्त के अनित्य संसार उसके अपने भाव में नहीं, परन्तु अपनी विपरीत दशा है — इस कारण संसार खड़ा है। अपनी स्वभावदृष्टि में संसार नहीं है, अल्प स्थिरता के कारण एकाध भव रहता है — वह बात यहाँ गौण है; दृष्टि स्वभाव पर है, वह मुख्य है। पूर्ण पर्याय प्रगट करने का पुरुषार्थ चालू है, इस कारण पूर्ण पर्याय प्रगट हो जाना है; इसलिए संसार नहीं है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी के संसार है, किन्तु ज्ञानी के संसार नहीं है।

इस 100 वीं गाथा में द्रव्यदृष्टि की अधिकता है, सम्पूर्ण वस्तुस्थिति इसमें स्पष्ट कर दी है। द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से भी कर्ता नहीं है। किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है। किसी समय अर्थात् अज्ञान अवस्था में योग और राग को अपना माने, तब तक किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होता है, वैसा कहा जाता है; क्योंकि मैं निमित्त हूँ — वैसा माना है, इससे निमित्त होता है, ऐसा कहा जाता है। परमार्थ से तो द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है; अन्य द्रव्य की अवस्था अन्य द्रव्य नहीं कर सकता — यह त्रिकाल अबाधित सिद्धान्त है। परवस्तु उसके अपने कारण से परिणामित होती है, उसमें कोई अन्य क्या कर सकता है? इस प्रकार इस गाथा में स्वद्रव्य को

सम्पूर्ण स्थित रखा है। पर का कर्ता तो तू निमित्तरूप से भी नहीं है — ऐसा कहकर पूर्ण स्वतन्त्रता घोषित की है।

अब ज्ञानी, ज्ञान का ही कर्ता है; ज्ञानी के नवीन कर्मबन्ध हो तो इसमें वह निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। कोई कहेगा कि ज्ञानी को अल्प कर्मबन्ध तो होता है न? अतः उनका निमित्त तो हुआ या नहीं? नहीं; उसका भी ज्ञाता है; अल्प इच्छा और योग है, उसका भी ज्ञाता है; निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। अहा! इस समयसार में सभी बातें कहीं हैं, कुछ भी शेष नहीं रखा; वस्तुस्थिति को स्पष्ट समझानेवाला चौदह पूर्व का रहस्य इसमें आ जाता है। किसी ऐसे सुयोग-काल में इस समयसार की रचना हुई कि जिसमें सर्वज्ञ-केवली का हृदय आ गया है। जो इस समयसार को समझ ले, उसे धन्य हो जाने का समय है।

आत्मा, शरीर की अवस्था, वाणी की अवस्था इत्यादि परवस्तुओं की अवस्था का व्याप्य-व्यापकभाव से तो कर्ता नहीं है, परन्तु निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं है — ऐसा इस गाथा में कहते हैं।

मूल गाथा में आता है कि जीव, घटादि की अवस्था को नहीं करता। जीव अर्थात् वस्तु, स्वयं कर्ता नहीं है; आत्मद्रव्य स्वयं घड़े की अवस्था का कर्ता नहीं है। एक आत्मद्रव्य अन्य आत्माओं की अथवा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी परमाणु की अवस्था का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। वस्तु कर्ता नहीं है; इसलिए वस्तु का दृष्टिवन्त भी कर्ता नहीं है।

आत्मा घट-पट का कर्ता नहीं है; एक रजकण से लेकर समस्त

जड़ द्रव्यों का कर्ता नहीं है; एक निगोद से लेकर समस्त आत्माओं की अवस्था का ज्ञानी आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है।

ज्ञानी, इच्छा और योग का कर्ता नहीं है परन्तु अज्ञानी उनका कर्ता है क्योंकि उसकी दृष्टि राग और योग पर है। राग और योग का विषय पर है; इसलिए अज्ञानी निमित्तरूप से पर का कर्ता है — ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

मैं राग और कम्पन जितना हूँ, राग और कम्पन मेरे हैं, मैं उनका कर्ता हूँ — ऐसा अज्ञानी मानता है। इस कारण वह परद्रव्य का कर्तृत्व भी निमित्तरूप से मान लेता है। राग और योग का विषय पर है, तथा द्रव्यकर्म, राग और योग को निमित्त है, इससे राग और योग का कर्तृत्व स्वीकार करते हुए परद्रव्य का कर्तृत्व भी साथ आ जाता है।

आत्मा, व्याप्त-व्यापकभाव से घड़े की अवस्था नहीं करता अर्थात् उसमें प्रविष्ट होकर नहीं करता। यदि ऐसा हो तो दो द्रव्य एक हो जाएँ। घड़े की अवस्था का आत्मा उपस्थित रहकर अर्थात् निमित्त रहकर भी कर्ता नहीं है; यदि ऐसा हो तो परद्रव्य का कर्तृत्व नित्य बना रहे अर्थात् योग और राग का कर्ता बना रहे, इससे परवस्तु का कर्ता भी नित्य बना रहे।

व्यवहार से कर्ता का अर्थ यह है कि कर्ता नहीं है; निमित्तकर्ता है। निमित्तकर्ता है — ऐसे निमित्त के अभिप्राय के बहाने से जीवों ने निमित्त को उपादान मान लिया है अर्थात् दो द्रव्यों को एक मान लिया है। निमित्त अर्थात् मात्र सामनेवाली वस्तु की उपस्थिति; जैसे, घड़ा होने में वहाँ कुम्हार की उपस्थिति अनुकूल होती है,

किन्तु धोबी की उपस्थिति अनुकूल नहीं होती; उस अस्तित्वमात्र निमित्त को जीवों ने निश्चयरूप-उपादानरूप से स्वीकार कर लिया है अर्थात् उपादान और निमित्त को एक मान लिया है। आत्मवस्तु का दृष्टिवन्त ज्ञानी, परवस्तु का उपस्थितिरूप से भी कर्ता नहीं होता। उपचार से कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति के आने से यह कार्य हुआ, परन्तु स्वभावदृष्टि उस निमित्त को भी स्वीकार नहीं करती।

जिसमें जो शक्ति है, वही क्षेत्रान्तर-रूपान्तर क्रियारूप प्रगट होती है। घड़ा बनते समय कुम्हार अपने में स्थित रहा; उसके हाथ की क्रिया हाथ में हुई। डोरा डोरे में फिरा और चाक, चाक में फिरा — सभी की क्रिया अपने-अपने में होती है। यदि कुम्हार के हाथ ने चाक फिराया हो तो कुम्हार के हाथ को उसमें प्रविष्ट हो जाना चाहिए, परन्तु वैसा तो नहीं होता; इसलिए कुम्हार का हाथ इधर से उधर फिरता है, वह स्वयं अपने में ही फिरता है; चाक में नहीं फिरता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने में स्वतन्त्र परिणमित होता है, परन्तु कुम्हार अज्ञान के कारण मान लेता है कि मैं उपस्थित था, इसलिए घड़ा हुआ है। इस प्रकार उसने निमित्तरूप से पर का कर्तृत्व स्वीकार कर लिया है, तथापि कर्ता नहीं है।

अज्ञानी का लक्ष्य, योग और राग में गया है और योग का तथा राग का विषय तो पर है। योग और राग मेरे हैं, मैं उनका हूँ; इस प्रकार जिसने राग को अपना माना, उसने रागादि का विषय जो परद्रव्य हैं, उन्हें भी अपना माना है। राग का कर्ता हुआ, इस कारण राग के विषय जो परद्रव्य हैं, उसका भी निमित्तरूप से कर्ता हुआ है।

वस्तु स्वयं निमित्तरूप से भी परद्रव्य की अवस्था की कर्ता नहीं है; यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व का प्रसङ्ग आए। जिसे यह बात नहीं जमती, वह चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करेगा।

अज्ञानी, योग और राग का कर्ता होता है; इसलिए वह परवस्तु की अवस्था का कर्तृत्व स्वीकार कर लेता है। जो परवस्तु की अवस्था का कर्तृत्व निमित्तरूप से स्वीकार करता है, उसके राग का कर्तृत्व नित्य रहने से कभी भी राग छूटकर निर्विकल्प वीतरागता नहीं होगी। जिसे परवस्तु के कर्तृत्व की पकड़ होती है, वह नहीं सुधरती, किन्तु यदि भूल हो और उसे स्वीकार करे तो सुधर जाती है। तीन लोक के नाथ तीर्थङ्करदेव आएँ तो भी जिसने पकड़ की होगी, वह नहीं छूटेगी। हमारी भूल है — ऐसा जिसे नहीं देखना है और मात्र पकड़ रखना है, वह कैसे सुधरेगी ?

कुम्हार को आत्मा का भान होने के पश्चात् यदि लाखों घड़े बनने में वह उपस्थित हो, तथापि वह निमित्तरूप से कर्ता नहीं होता। कुम्हार को वीतरागता नहीं हुई है, इसलिए उसे घड़ा बनाने के राग का विकल्प आए, योग की क्रिया भी हो, हाथ की क्रिया हो, योग और राग की क्रिया घड़े को अनुकूल हो, परन्तु उसका वह कर्ता नहीं होता। कुम्हार क्षायिकसम्यक्त्वी हो, तथापि जब तक सम्पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है, वहाँ तक उसे घड़ा बनाने का विकल्प उठता है, योग की क्रिया भी होती है परन्तु निमित्तकर्तृत्व की दृष्टि नहीं है। जो योग और कषाय का कर्ता है, वह निमित्तकर्तृत्व को स्वीकार करता है।

बाह्य वस्तु ज्यों की त्यों है परन्तु जब विपरीत मान्यता थी, तब उस वस्तु का कर्ता होता था और ज्ञान होने पर उसका अकर्ता होता है। मकान, पुस्तक, वाणी इत्यादि परद्रव्य तो वही के वही हैं परन्तु पहले कर्ता होता था और अब, ज्ञान होने से कर्तृत्व छूट गया है। वाणी की अवस्था वाणी से होती है, ज्ञानी उसका कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं होता।

प्रश्न — भगवान के समक्ष ऐसा तो कहा जाता है कि हे प्रभु! आपने हम पर करुणा करके दिव्यध्वनि छोड़ी ?

उत्तर — भगवान की वाणी और योग को, भगवान के वीर्य और ज्ञान के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए भगवान बोले — ऐसा कहा जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। एक-दूसरे की उपस्थिति में एक-दूसरे को अनुकूल क्रिया होती है — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु इससे उनमें निमित्तरूप से कर्तृत्व नहीं आता। भगवान के ज्ञान के अनुसार वाणी की क्रिया अनुकूल अर्थात् मेल खाती हुई होती है — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु उससे निमित्तकर्तृत्व किञ्चित् नहीं है। केवली को इच्छा नहीं है; योग है। यदि योग से वाणी खिरे तो निरन्तर क्यों नहीं खिरती ? इसलिए किसी से अन्य का कर्तृत्व नहीं है।

ज्ञानी के भी राग की और योग की जो क्रिया होती है, वह घड़ा इत्यादि परद्रव्य की अवस्था को अनुकूल पड़े — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि वस्तु का दृष्टिवन्त ज्ञानी उसका निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान करता है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण मकान, पुस्तक, घड़ा आदि बनवाने

का विकल्प होता है, इसमें तथा उस कार्य के होने में ज्ञानी की उपस्थिति होती है; अतः उपचार से उसे कर्ता कहा जाता है कि इस मनुष्य ने यह कार्य किया, परन्तु वस्तु का दृष्टिवन्त ज्ञानी, अस्थिरता का कर्ता नहीं है, योग का भी कर्ता नहीं है; तब फिर परद्रव्य की अवस्था का कर्ता तो कहाँ से होगा ?

वस्तुतः विकल्प और योग अपने हैं ही नहीं, परन्तु अज्ञानी ने उन्हें अपना माना है; विकल्प और कम्पन को अपना माना है। उसके कदाचित् अर्थात् अज्ञान प्रवर्तमान है, वहाँ तक योग और उपयोग का कर्तृत्व है और उससे निमित्तरूप से पर का कर्ता होता है। अज्ञान स्थायी नहीं रहता, वह पलट जाता है; इस कारण आचार्यदेव ने 'कदाचित्' शब्द कहा है। योग-उपयोग का कर्ता आत्मा भी अज्ञानभाव से भले हो, परन्तु परद्रव्य का कर्ता तो कभी भी नहीं है।

यहाँ तो यह सिद्धान्त है कि आत्मा स्वतः और जिसे आत्मा की दृष्टि हुई है वह, पर का निमित्तपने भी कर्ता नहीं है और पर, उसे निमित्त नहीं है। उसी प्रकार द्रव्यदृष्टि में छहों द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं आता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनेरूप से है और पररूप से नहीं है। स्वयं अपनेरूप है — यह अस्ति और पररूप नहीं है — यह नास्ति। दर्शन / श्रद्धा का विषय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में पर के द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्बन्ध का अस्वीकार करता है। छहों द्रव्य स्वयं अपने में अस्तिरूप से हैं और पर में नास्तिरूप से हैं — इस प्रकार से छहों द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं है। अरे ! दर्शन का विषय

तो अपने स्वद्रव्य के गुण-पर्याय के भेद को भी स्वीकार नहीं करता; अनन्त गुण-पर्याय के पिण्डस्वरूप अभेद द्रव्य पर ही उसका लक्ष्य है, अभेद द्रव्य ही उसका विषय है।

अज्ञानी को द्रव्यदृष्टि का ज्ञान नहीं है। इससे उसे अपने अखण्ड स्वरूप का ध्यान नहीं आता; मैं पर का कर्ता हूँ — ऐसा वह मानता है, क्योंकि दृष्टि पर के ऊपर है। अज्ञानी के योग और राग निमित्तकर्ता किसलिए कहे जाते हैं? वह मानता है इसलिए कहे जाते हैं। उसके मान्यता का भावरूप वाच्य है, इसलिए निमित्तकर्ता का वाचक शब्द भी है। आत्मा कर्ता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तु को कर्ता कहा तो वस्तु तो स्थायी है; इसलिए नित्य कर्तृत्व का प्रसङ्ग आयेगा। वस्तुस्वरूप के ज्ञान बिना उपादान की ओर उन्मुखता नहीं होती, इसलिए वस्तुस्वभाव का ज्ञान करना प्रयोजनभूत है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी वस्तु की अवस्था किसी समय अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्तभूत होती है। द्रव्यदृष्टि से तो सर्व सम्बन्ध का अभाव है — ऐसी दृष्टि का स्वीकार किये बिना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं जाना जा सकेगा। किसी वस्तु की अवस्था होते समय किसी वस्तु की अवस्था निमित्त होती है। अज्ञानी पर का कर्तृत्व मानता है, इस कारण उसे कर्ता कहा है परन्तु परमार्थ से कोई किसी का कर्ता नहीं है।

इस 100 वीं गाथा की टीका के प्रथम बोल में आचार्यदेव ने ऐसा कहा कि यदि आत्मा, परद्रव्य को करे तो वह परद्रव्य में

प्रविष्ट हो जाए, तन्मय हो जाए; इसलिए वह परद्रव्य को व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता। दूसरे बोल में कहा है कि आत्मा, परद्रव्य की पर्याय को निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता, क्योंकि यदि आत्मा परद्रव्य की पर्याय को निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसङ्ग आए, कर्तृत्व कभी दूर न हो, इस कारण कर्तृत्व छूटकर स्वद्रव्य की निर्मल पर्याय को प्रगट करने का प्रसङ्ग नहीं आए; इसलिए आत्मा परद्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं है; परन्तु अज्ञानी, अज्ञान अवस्था से योग और रागादि उपयोग का कर्ता होने से उसकी दृष्टि निमित्त पर है, अतः अज्ञानी के योग-उपयोग की अवस्था सामनेवाले परद्रव्य का अवस्था की निमित्तरूप से कर्ता है, किन्तु ज्ञान अवस्था से योग और रागादि उपयोग का कर्ता नहीं है; इसलिए परद्रव्य का निमित्तकर्ता नहीं है। ●●

मुनिराज अर्थात् अकषायी शान्ति के पिण्ड!

देखो, चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की मात्र झलक आती है, जबकि चारित्रवन्त मुनिराज को तो विशेष स्वरूप-रमणता होने से अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आती है, उन्हें प्रचुर आनन्द होता है। अहाहा! मुनिराज, मानो अकषायी शान्ति के पिण्ड!

(- प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 118)

मिथ्यात्व से होनेवाला भावमरण

जगत के जीव, जिस भूल के कारण भावमरण कर रहे हैं, उस भूल का प्रकार समझाकर और उससे छूटने का उपदेश देकर, वीतरागी सन्तों ने जीवों को भावमरण से बचाया है। वीतरागी सन्त कहते हैं कि हे भाई! सबसे पहले इतना निर्णय कर कि तेरा कार्यक्षेत्र तुझमें ही है; तुझसे भिन्न बाहर में तेरा कार्य किञ्चित् भी नहीं है। इस प्रकार पर से अत्यन्त भिन्नता समझकर, अपने निज स्वरूप को सम्भाल! – यही भावमरण से छूटने का और परम आनन्द की प्राप्ति का उपाय है।

जगत में सदा ही समस्त जीवों का जीवन अथवा मरण; साता अथवा असाता; संयोग अथवा वियोग – यह सब अपने-अपने कर्मोदयानुसार होते हैं। दूसरा मानता है कि मैं उनका कुछ करता हूँ तो यह मात्र, अज्ञान है और ऐसा अज्ञानमय मिथ्यात्वभाव ही भावहिंसा है, अधर्म है। भले ही फिर वह भाव, शुभ हो या अशुभ हो।

भाई! अन्य जीव की आयु पूर्ण हुए बिना कोई उसे मारने के लिए समर्थ नहीं है। यदि दूसरे जीव की आयु न हो तो कोई उसे

जिलाने में समर्थ नहीं है। उसके साता के उदय के बिना कोई उसे सुख देने के लिए समर्थ नहीं है। उसके असाता के बिना कोई उसे दुःख देने के लिए समर्थ नहीं है। इस प्रकार जीव को स्वयं किये हुए भावों के फलानुसार जीवन-मरण, सुख-दुःख होता है। वहाँ दूसरा मुझे जिलाता है, मारता है अथवा सुख-दुःख देता है अथवा मैं दूसरों को जिलाता हूँ, मारता हूँ या सुख-दुःख देता हूँ – जिसे ऐसा भ्रम है, वह जीव निःशङ्करूप से मिथ्यादृष्टि ही है। जगत के जीवों का बहुभाग ऐसी मिथ्याबुद्धि से अज्ञानी है। जो कोई जीव पर के कर्तृत्व की ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह जीव स्पष्टरूप से मिथ्यादृष्टि ही है – ऐसा जानना चाहिए।

भाई! तू तो ज्ञान है। ज्ञानतत्त्व, शुभाशुभ विकल्प का भी कर्ता नहीं है, तब पर का कर्तृत्व तुझमें कैसा? तू अपने ज्ञान का ही स्वामी है, पर का स्वामी नहीं है। परवस्तु के कार्य का स्वामी वह वस्तु ही है, उसके बदले तू उसका स्वामी / कर्ता होता है तो यह अन्याय है, अज्ञान है। तेरे कार्यों का स्वामी दूसरा नहीं है और दूसरों के कार्य का स्वामी तू नहीं है। स्वाधीनरूप से जगत् के पदार्थ अपना-अपना कार्य कर रहे हैं।

जो ऐसे वस्तुस्वरूप को नहीं जानते और मोह से अन्य जीव को, अन्य जीव द्वारा सुख-दुःख, जीवन-मरण अथवा बन्ध-मोक्ष होना मानते हैं, वे मिथ्यात्वरूप अशुद्धपने परिणमित हुए हैं। दूसरा जीव मुझे राग कराकर बाँधता है अथवा दूसरा जीव मुझे ज्ञान देकर छुड़ाता है – ऐसी स्व-पर में कर्ता-कर्म की एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व है। वह मिथ्यादृष्टि जीव, तीव्र मोहवश अपने चैतन्यप्राण

की हत्या करता है, स्वयं अपने आत्मजीवन का नाश करता है – यही महा भावहिंसा है।

यह मेरा मित्र, यह मेरा शत्रु, यह मुझे सुख देनेवाला, यह मुझे दुःख देनेवाला अथवा मैं दूसरों का मित्र, मैं दूसरों का शत्रु, मैंने दूसरों को सुख दिया, मैंने दूसरों को दुःख दिया – ऐसी मिथ्याबुद्धि से अज्ञानी जीव, राग-द्वेष ही करता है। पर के साथ कर्तृत्वबुद्धि हो, वहाँ राग-द्वेष का कर्तृत्व छूटता ही नहीं है। राग-द्वेष मोहरूप अशुद्धता के द्वारा जीव का शुद्ध चैतन्यप्राण नष्ट होता है, वही भावहिंसा है। इस प्रकार अज्ञानी स्वयं अपने आत्मा का घात करता है; इसलिए वह आत्मघातक है और यह आत्मघात ही महापाप है, उसमें भावमरण का भयङ्कर दुःख है।

अरे! मेरा आत्मा तो ज्ञान है। ज्ञान का कोई शत्रु, अथवा कोई मित्र नहीं है। ज्ञान तो सुखी-दुःखी सबको जानता है परन्तु ज्ञान किसी को सुख-दुःख नहीं देता। दूसरा कोई पदार्थ, ज्ञान को दुःख देनेवाला नहीं है; दूसरा कोई पदार्थ, ज्ञान को सुख देनेवाला नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ, ज्ञान में राग के शुभविकल्प का भी कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार स्वयं अपने को ज्ञानरूप अनुभव करते हुए ज्ञानी धर्मात्मा, जगत् के किसी भी परभाव को किञ्चित्मात्र भी अपना नहीं करते हैं; अपने से भिन्न जानकर उसके ज्ञाता ही रहते हैं।

अरे! ज्ञान में पर के कर्तृत्व का बोझ कैसा? और ज्ञान में पर कारण की पराधीनता कैसी? – ऐसा ज्ञान स्वयं निराकुल शान्तरस से स्वयं भरपूर है, वही स्वयं वीतरागी आनन्दरूप है।

जिसे शरीरबुद्धि से मैं देव, मैं मनुष्य इत्यादि प्रकार वर्तते हैं, वह भी अज्ञानी है। यद्यपि जीव, पर की क्रिया नहीं कर सकता, फिर भी करने का अभिप्राय करता है; इसलिए ज्ञानभावरूप न परिणमते हुए अज्ञानभावरूप परिणमित होता है, इसका नाम मिथ्यात्व है। मोक्ष तो ज्ञान के आश्रय से होता है, ज्ञानरूप शुद्ध आत्मा के अनुभव से मोक्ष होता है। उसके बदले शुभविकल्प को करने के अहङ्कार से जो शुभराग को मोक्ष का साधन मानता है, उससे कहते हैं कि अरे मूर्ख! शुभराग में एकत्वबुद्धि से तेरे ज्ञानजीवन की हिंसा होती है। राग स्वयं बन्धभाव है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है?

जगत् में अनन्त जीव बसते हैं। वे सभी जीव, स्वाधीन और असहाय हैं; अर्थात्, दूसरों की सहायता बिना ही टिकनेवाले हैं; उसमें कोई किसी का स्वामी नहीं है। पर का जीवन अपने आधीन न होने पर भी, मैं पर को जिलाऊँ – ऐसी मिथ्याबुद्धि में अपना भावमरण होता है। अरे! पर को जिलाने की बुद्धि में अपना मरण होता है, भावप्राणों का नाश होता है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। हे जीव! अपने आत्मा को उस भावमरण से बचाने के लिए और सच्चा जीवन प्राप्त कराने के लिए तू भेदज्ञान कर। भेदज्ञान द्वारा पर से अपनी भिन्नता जान! भेदज्ञान के बिना भावमरण का अभाव नहीं होगा।

भाई! तेरे विकल्प के बिना ही दूसरे जीव को सुख-दुःख, जीवन-मरण तो उसके अपने भाव से होता ही है – तो उसमें तूने क्या किया? और तेरा विकल्प होने पर भी उस अनुसार दूसरे जीव

में नहीं होता। जैसे, तेरा किसी जीव को मारने का अभिप्राय होने पर भी वह जीव बच जाता है, तेरा बचाने का अभिप्राय होने पर भी वह मर जाता है। यह तो उसके अपने कारण होता है; तेरे कारण नहीं होता। फिर भी तू कर्तापना मानता है, वह तेरा मिथ्याभाव है और वह तेरा मिथ्याभाव तुझे दुःख का कारण है। यह जीव, दुःख में पिल रहा है, उससे छूटने के लिए यह बात है। ज्ञानभाव द्वारा जीव, कर्मों से छूटता है; अज्ञानभाव द्वारा जीव, कर्मों से बँधता है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उसे बाँधने अथवा छुड़ानेवाला नहीं है।

यदि जीव, स्वयं रागादि-बन्धभावों को नहीं करे तो जगत् में दूसरे किसी पदार्थ में ऐसी शक्ति नहीं है कि जीव को बन्धन करा दे। वीतरागभाव प्रगट करके जीव स्वयं मुक्त होता है, वहाँ उसे रोकने के लिये कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार बन्ध में अथवा मोक्ष में जीव अकेला ही है। स्वयं ही स्वतन्त्ररूप से अपने बन्ध-मोक्ष का अथवा सुख-दुःख का कर्ता है - ऐसी स्वाधीनदृष्टि से पर का कर्तृत्व छूटता है और पर मेरा कर्ता है - ऐसी पराधीनबुद्धि छूटती है। भेदज्ञान होकर स्वयं अपने ज्ञानभावरूप परिणमित होता है, यही सुख है, यही मोक्ष का उपाय है।

अरे जीव! तेरे सामने मरण खड़ा है और फिर भी तुझे बाह्य विषयों में हर्ष क्यों होता है? इस देह का संयोग तो छूट जाएगा, यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, फिर भी तू आत्मा की दरकार क्यों नहीं करता? जीवन तो क्षण में समाप्त हो जाएगा, फिर तू कहाँ जाएगा? इसकी तुझे कोई चिन्ता है? आत्मा इन देहादि समस्त संयोगों से भिन्न है और अन्दर के राग से भी पृथक् है। जिसे पर के साथ कोई

सम्बन्ध नहीं है, फिर पर की महिमा क्या? राग का उत्साह क्यों?

अरे! पर के कर्तृत्व में और राग के रस में जीव अपना स्वरूप भूल रहा है। आत्मा पर का करे और पुण्य से धर्म हो, यह बात सर्वज्ञदेव के जैन शासन की मर्यादा से बाहर है। तेरी चैतन्य मर्यादा में राग का प्रवेश कैसा और उसमें जड़ का काम क्या? पर के कर्तृत्वबुद्धि से तो तेरा अपना अहित होता है।

- 1- तूने आज तक किसी दूसरे का कुछ भी नहीं किया है;
- 2- कोई दूसरा तेरा कुछ नहीं करता है;
- 3- अपने आत्मा को भूलकर, अपनी पर्याय में तूने अज्ञान और राग-द्वेष किये हैं, उनसे तेरा भावमरण है;
- 4- वह अज्ञान और राग-द्वेष भी तेरे आत्मा का नित्यस्वभाव नहीं है। तेरा आत्मा, शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, उसका भान करने से अज्ञान का नाश होता है और ज्ञानभाव प्रगट होता है, वह धर्म है और वही तेरा हित है।

अब तक तू अज्ञान से अपनी आत्मा का हिंसक था। भेदज्ञान द्वारा वह हिंसारूप भावमरण टलकर ज्ञान-आनन्दमय जीवन प्रगट होता है। आत्मा तो जगत् का साक्षी, ज्ञानचक्षु है। वह ज्ञानचक्षु जानने के अतिरिक्त बाह्य में क्या करेगा? जो ज्ञानचक्षु से बाहर के कार्य करना मानता है, वह तो आँख से पत्थर उठाने जैसा कार्य करना मानता है, जो कि सर्वथा असम्भव है।

- 1- ज्ञान की महानता इसमें नहीं है कि पर के कार्य करे;
- 2- ज्ञान की महानता इसमें नहीं है कि रागादि भाव करे;

3- ज्ञान की महानता तो इसमें है कि जगत् से भिन्न और रागादि से पृथक् अपने वीतरागी आनन्दस्वरूप को जानकर उसका अनुभव करे।

4- जिसे जगत् का कुछ करना नहीं है, शुभराग का एक कण भी जिसमें नहीं है - ऐसा शान्त अरागी गम्भीर ज्ञान है। जब तक ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं पहचाने, तब तक पर के साथ एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता और मिथ्यात्व का अभाव हुए बिना, जीव को सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता।

अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाला अज्ञानी जीव, अज्ञान के कारण जगत् में सर्वत्र स्व-पर की एकताबुद्धि करता है। जिसने एक रजकण का भी कर्तृत्व माना है, उसे जगत् के समस्त पदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि खड़ी ही है। राग के एक शुभ अंश से भी जिसने लाभ माना है, उसने सम्पूर्ण राग को आत्मा का स्वरूप माना है; राग से पृथक् ज्ञानस्वरूप आत्मा का उसने अनुभव नहीं किया है। पर से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला, पर का कर्तृत्व कैसे मानेगा? वह पर में आत्मबुद्धि क्यों करेगा?

अरे! आत्मा को भूलकर पर में आत्मबुद्धि से जीव ने संसार में अनन्तानन्त अवतार किये हैं... जगत् में सर्वत्र उत्पन्न हो चुका है और जहाँ-जहाँ उत्पन्न हुआ, वहाँ-वहाँ अज्ञानभाव से अपनापना माना है। चींटी के भव के समय अपने को चींटी और हाथी के भव के समय 'मैं हाथी' इस प्रकार अपने को हाथी माना है। देव के भव के समय अपने को देव और नारकी के भव के समय आत्मा को नारकी माना है। सर्वत्र सर्व परभावों में अपनापना माना है परन्तु इन

सब से पृथक् मैं तो ज्ञानस्वभावरूप हूँ - ऐसा आत्मानुभव एक क्षण भी जीव ने नहीं किया है।

अरे! पर में एकत्वबुद्धि के मोह से पागल होकर, जीव चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है और अनेक प्रकार के मिथ्या विकल्प कर-करके दुःखी हो रहा है। जहाँ शुभराग का कर्तृत्व भी दुःख है, वहाँ अशुभ की अथवा जड़ की तो बात ही क्या? जो अपने परिणाम के आधीन नहीं हैं - ऐसे जगत् के पदार्थों के पीछे जीव पागल बना हुआ है; भ्रमवश उनका कर्तृत्व मानता है... उसमें चैतन्य का भावमरण है। भाई! तू प्रति क्षण ऐसे भावमरण से दुःखी हो रहा है। इस भावमरण से छूटने के लिए वीतरागी सन्त तुझे तेरे चैतन्यजीवन की पहचान कराते हैं। जिसमें राग का अंश नहीं है, पर का सम्बन्ध नहीं है - ऐसे अपने चैतन्यस्वभाव को जानना-मानना-अनुभव करना, वह भावमरण से मुक्त होने का और परम आनन्द प्राप्त करने का उपाय है।

जैसे, मार्ग में चले जा रहे मनुष्यों को अथवा हाथी इत्यादि को देखकर कोई पागल, पागलपन से ऐसा माने कि यह पदार्थ मेरे हैं, मैं इन्हें चलाता हूँ; इसी प्रकार स्वयं परिणमित होते हुए जगत् के जड़-चेतन पदार्थों को देखकर जो यह मानता है कि ये पदार्थ मेरे हैं, मैं इनका कर्ता हूँ, वह जीव मिथ्यात्व से पागल हो रहा है। जिसे सत्-असत् की भिन्नता का पता नहीं है, स्व-पर की भिन्नता का जिसे बोध नहीं है और सबको एक-दूसरे में मिलाकर मानता है, उसका समस्त जानपना उन्मत्तवत् है - ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा है।

मैं, पर का कार्य करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है – ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव, अपने में भी आत्मा को पर्यायबुद्धि से ही देखता है; अर्थात्, रागी-द्वेषी अशुद्धरूप ही अनुभव करता है। पर को बचाने की शुभवृत्ति हुई, वहाँ उस शुभवृत्ति का राग ही मेरा कर्तव्य है; इस प्रकार अपने को रागस्वरूप ही अनुभव करता है परन्तु राग से पार चैतन्य कार्य को नहीं जानता – ऐसा अज्ञान जब तक नहीं मिटता, तब तक ज्ञान अथवा आचरण कुछ भी सच्चा नहीं होता।

कोई यह मानता है कि मैं दूसरे को तिरा दूँ, मैं दूसरे को मुक्त कर दूँ, तो कहते हैं कि हे भाई! तू स्वयं ही मिथ्यात्व के बन्धन में पड़ा हुआ है। जैसे, जगत् का कर्ता कोई ईश्वर नहीं है; इसी प्रकार आत्मा भी जगत् के किसी पदार्थ का कर्ता नहीं है। सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है। जब आत्मा में राग के एक अंश का भी अस्तित्व नहीं है, तब परवस्तु की तो क्या बात ?

जैसे, कोई आकाश के फूल चुनने की चेष्टा करे तो वह निरर्थक है, क्योंकि उसका अभाव ही है; अर्थात्, आकाश के फूल होते ही नहीं हैं; इसी प्रकार परवस्तु का आत्मा में अभाव है, फिर भी उसका कार्य करने की चेष्टा / अभिप्राय कोई करे तो वह निरर्थक है; अर्थात्, मिथ्या है। जहाँ ऐसा मिथ्यात्व होता है, वहाँ साधुपने का आचरण नहीं होता और सम्यक्त्व भी नहीं होता। चैतन्य के भान द्वारा जिसने ऐसे मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्रगट किया है, उसका ही ज्ञान और आचरण सच्चा है। ऐसा सच्चा

ज्ञान प्रगट होने पर भावमरण का अभाव होता है और सच्चा जीवन; अर्थात्, अतीन्द्रिय आनन्दशा प्रगट होती है।

मुनिदशा तो महापूज्य परमेष्ठी पद है। वह मुनिदशा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। मैं पर को मारूँ, पर को जिलाऊँ, पर मुझे मारे अथवा जिलाये – ऐसा मिथ्या अध्यवसाय मुनियों को स्वप्न में भी नहीं होता। अभी तो जहाँ पर के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि है, जहाँ राग से धर्म होने की मिथ्याबुद्धि है, वहाँ सम्यक्त्व भी नहीं है तो मुनिदशा कैसी? वहाँ ज्ञान अथवा चारित्र कुछ भी सच्चा नहीं है।

सच्चा ज्ञान और चारित्र क्या है? इसका लोगों को पता नहीं भी नहीं है। अन्तर चैतन्य में एकाग्र होने पर एक सूक्ष्म विकल्प भी अपनेरूप भासित नहीं होता – ऐसे शुद्ध चैतन्य के अनुभवसहित का ज्ञान, वह सच्चा ज्ञान है और वैसे सच्चे ज्ञानपूर्वक आनन्द में एकाग्रता, वह सच्चा आचरण है। राग और बाह्यक्रिया, वह धर्मी को निज स्वरूपरूप भासित नहीं होती। जिससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आवे – ऐसे ज्ञान को ज्ञान कौन कहेगा? ऐसे आचरण को आचरण कौन कहेगा? सम्यक्त्व के बिना शुभराग का आचरण भी जीव, अनन्त बार कर चुका है परन्तु जन्म-मरण से छूटकारा नहीं हुआ है। भगवान उसके शुभ आचरण को सच्चा आचरण नहीं कहते हैं।

प्रश्न – पञ्चम काल में ऐसा ज्ञान और आचरण होता है ?

उत्तर – हाँ; ज्ञान और आचरण का स्वरूप तो तीनों काल ऐसा ही है; पञ्चम काल में कहीं उसका स्वरूप दूसरा नहीं हो जाता।

देखो, अभी विदेहक्षेत्र में अनेक मुनि ऐसे ज्ञान, आचरणसहित विचरते हैं, उसमें से छठवें गुणस्थानवर्ती किसी मुनि को उठाकर कोई इस भरतक्षेत्र में रख जाए तो भरतक्षेत्र और पञ्चम काल होने पर भी विदेहक्षेत्र के वे मुनि यहाँ क्षपकश्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें यह क्षेत्र अथवा काल बाधक नहीं होगा।

जीव, अपने बन्ध-मोक्ष को स्वाधीनरूप से अकेला करता है। जीव का कार्यक्षेत्र अपने में है; बाह्य में उसका कार्यक्षेत्र किञ्चित् भी नहीं है। इस प्रकार पर से अत्यन्त भिन्नता समझकर, अपने निज स्वरूप को तू सम्हाल ! यही भावमरण से छूटने का और परम आनन्द की प्राप्ति का उपाय है। ●●

[आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष-25, अङ्क-8, पृष्ठ 14-20;

समयसार कलश 168 से 172 तक के प्रवचन]

सन्तों का सनातन मार्ग : वीतरागी चारित्रदशा

चारित्रदशा के बिना अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो जाता। अट्टाईस मूलगुणोंसहित वीतरागी चारित्रदशा ही सन्तों का सनातन मार्ग है। वह धन्य अवसर अर्थात् आत्मा की वीतरागीदशा का स्वकाल कब आयेगा? - ऐसी उग्र भावना की है। प्रत्येक जीव को आत्मा का भान करके यह भावना करने योग्य है। इस भावना से आत्मा की रागरहित दशा होकर केवलज्ञान प्रगट होना ही कल्याण है।

वैराग्य का वह प्रसङ्ग महान वैराग्य भावना का है।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती पृष्ठ 61-62)

वस्तु की स्वतन्त्रता

आत्मस्वभाव की प्रतीति होने पर पराधीनभाव का नाश और स्वाधीनभाव का विकास होना, वह निर्जरा है। स्वाधीनभाव का विकास और पराधीनभाव का नाश किसके बल से होता है? - यह जाने बिना निर्जरा नहीं होती है।

विकारभाव-पराधीनभाव क्षणिक है। यदि अविनाशी, निर्मल, ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाए तो क्षणिकभाव का माहात्म्य दूर हो जाए। क्षणिक राग-द्वेष जितना मैं नहीं हूँ - ऐसी प्रतीति होने पर उनके प्रति आकर्षण और उत्साह दूर हो जाता है, किन्तु यह कब हो सकता है? तब, जब कि उसे ऐसी प्रतीति हो जाए कि मैं अविनाशी और स्थिर हूँ और वह क्षणिक के लक्ष्य को गौण कर दे।

जब तक यह न ज्ञात हो जाए कि मैं राग-द्वेष विहीन ज्ञाता स्थिर आत्मा हूँ, तब तक स्वतन्त्रता नहीं झलकती। 'एक आत्मा को दूसरे की आवश्यकता नहीं है।' - इस प्रकार का निर्णय हो जाना ही स्वतन्त्रता का कारण है। एक आत्मा को दूसरे की आवश्यकता होती है - ऐसा मानना परतन्त्रता है।

शरीरादिक ठीक हों तो अच्छा हो - इस प्रकार एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के आलम्बन की इच्छा करे, यही पराधीनता है।

मैं निर्मल, ज्ञानज्योति, राग-द्वेषविहीन हूँ; मेरा सुख मुझमें है - इस प्रकार की श्रद्धा का होना ही स्वभाव की स्वतन्त्रता प्रगट करने का उपाय है। इस स्वरूप की रुचि का जो भाव है, उसमें अनन्त पुरुषार्थ है; वहाँ विषय कषाय की रुचि नहीं है।

‘पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि सब परवस्तुएँ हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है; ज्ञाता दृष्टास्वभाव में ही आत्मधर्म और स्वतन्त्रता है। आत्मा को पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं है’ - ऐसा निश्चय हुए बिना धर्म और स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती। ज्ञान के बिना स्वतन्त्रता का निश्चय कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि सबका अता-पता लगानेवाला ज्ञान ही है।

अरूपीभाव का पता लगानेवाला ज्ञान है, पर से भिन्नत्व की प्रतीति का पता भी ज्ञान से मिलता है। देखो! समुद्र में आँखें बन्द होने पर भी मोती को कौन पहचान लेता है? वह ज्ञान से मालूम होता है।

ज्ञान अर्थात् आत्मा; वह जानता है कि यह मोती (सीप) है या शंख? दोनों के बीच भेद को जाननेवाला ज्ञान है। चैतन्य आत्मा से लक्ष्मी आदि पर हैं। पर से भिन्न आत्मा की स्वतन्त्रता का पता, यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं होता और सत्समागम के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं मिलता और सम्यग्दर्शन भी प्रगट नहीं होता। बिना सम्यग्दर्शन के स्वाधीनता प्रगट नहीं होती। सम्यक्त्वी के निःशङ्कता नाम का प्रथम आचार होता है, इसका

विश्वास, वह श्रद्धा है और जानना, वह ज्ञान है। आत्मा का दर्शन-ज्ञान, आत्मा में ही है। आत्मा के धर्म का सम्बन्ध आत्मा के साथ है; बाह्य के साथ नहीं।

देव-गुरु-शास्त्र पर हैं और धर्म का सम्बन्ध पर के साथ नहीं है। धर्म, पर के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। धर्म का अर्थ है कि ज्ञान में पर के साथ निजत्व की मान्यता न होने देना और अखण्ड चैतन्य के लक्ष्य से राग-द्वेष शिथिल हो जाना ही आत्मा का धर्म है। आत्मा का धर्म, आत्मा में है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाले शुभभाव से भले ही संसार के पाप का परिणामरूप अशुभभाव घटाये जाते हैं किन्तु धर्म की दृष्टि से वह शुभभाव भी आदरणीय नहीं है। धर्म तो मेरे ज्ञातास्वभाव के आश्रय से होता है। जब उसमें आत्मा टिक नहीं सकता, तब शुभ में प्रयुक्त होना पड़ता है। जब तक जीव यह नहीं समझ लेता कि शुभभाव धर्म का कारण नहीं है, तब तक उसे धर्म की, आत्मा की और स्वतन्त्रता की खबर नहीं होती। दूसरे का कुछ करने की जो वृत्ति है, वही विकार है।

‘मैं चिदानन्द, असंयोगी आत्मा, पूर्ण ज्ञानस्वरूप, निर्मल हूँ; मेरा और पर का कोई सम्बन्ध नहीं है’ - इस प्रकार की प्रतीति होने के बाद स्वरूप में स्थिर होनेरूप पुरुषार्थ की अशक्ति में विषय-कषाय के पापभाव से बचने के लिए शुभभाव आते हैं, वे भी विकार हैं; मैं उससे रहित ज्ञातादृष्टा हूँ - ऐसी दृष्टि हुए बिना किसी को कभी न तो धर्म हुआ है, न होता है और न होगा।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग कहे गये हैं, उनमें से पहला निःशङ्कित अङ्ग है।

आत्मा, ज्ञाता-दृष्टा ही है। आत्मा, निश्चय से वास्तव में कर्म द्वारा बँधता है, यह मानना भ्रम है। ऐसा भ्रम, सम्यक्त्वी के नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु भिन्न है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। यदि एक पदार्थ दूसरे का कुछ भी करे तो दो पदार्थ एक हो जाएँ; इसलिए एक पदार्थ दूसरे का कुछ करता है - ऐसा मानना एकदम मिथ्यात्व है।

सत् त्रिकाल में कभी बदल नहीं सकता। यदि एक पृथक् तत्त्व, दूसरे तत्त्व के आधार से हो तो वह तत्त्व ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जब कि पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तब यह मानना चाहिए कि एक क्षेत्र में रहने पर भी जड़कर्म, आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराते, क्योंकि वह भिन्न वस्तु हैं और ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वतन्त्र भिन्न वस्तु है। परवस्तु, आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराती; इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्र आत्मा का निर्णय हो गया, वहाँ मैं राग-द्वेषरूप नहीं हूँ क्योंकि अकेले तत्त्व में विकार नहीं होता। यदि अकेला तत्त्व विकार; अर्थात्, राग-द्वेष करने लगे तो वह उसका स्वभाव हो जाए; इसलिए मात्र अकेले में विकार नहीं होता।

आत्मा में परपदार्थ नहीं है। जिसे यथार्थ निर्णय हो गया कि 'मैं भिन्न हूँ, इसलिए मुझे बन्ध नहीं है', उसके बन्ध नहीं है; बन्ध तभी होता है, जब जीव अपने को दूसरे के साथ बँधा हुआ मानता है।

पहला सिद्धान्त - एक तत्त्व, दूसरे तत्त्व का कुछ भी नहीं कर सकता - यही वस्तु का स्वरूप है।

दूसरा सिद्धान्त - परपदार्थ मुझे राग-द्वेष कराता है, इस प्रकार मैंने माना है; यही अनादिकालीन भ्रम है।

'मैं एक पृथक् तत्त्व, कर्मों के द्वारा बँधा हुआ हूँ' - इस प्रकार का जो भ्रम है, यही अनन्त अवगुणों की जड़ है। 'मैं पर से बँधा हुआ हूँ' - इस प्रकार का जो भ्रम है, यही मिथ्यात्व है। मैं मुक्त हूँ - ऐसा न मानकर 'पर के आश्रय के बिना मेरा चल ही नहीं सकता' - इस प्रकार निश्चय कर लेना ही अज्ञान और विपरीतबुद्धि है। यद्यपि कोई किसी की मदद नहीं करता, फिर भी अज्ञान से जीव वैसा, मात्र मानता है।

आत्मा ज्ञाता है, उसमें कर्मबन्ध नहीं है। मैं बँधा हुआ हूँ, इस प्रकार का भ्रम ज्ञानी के नहीं होता है।

प्रश्न - आत्मा बँधा हुआ नहीं है तो क्या मुक्त हो गया है ?

उत्तर - अनादि से आत्मा तो मुक्त ही है, किन्तु 'मुझमें स्वतन्त्रता है, यदि उसमें स्थिर हो जाऊँ तो स्वाधीन हूँ' - जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, उसने अपने को पराधीन माना है। 'मैं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार की यथार्थ प्रतीति होने पर स्वाधीनता प्रगट होती है। वस्तु तो स्वतन्त्र है ही; जीव ने पराधीनता की मान्यता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं किया। भले ही इस बात को कोई स्वीकार न करे, किन्तु त्रिकाल में भी यह बदल नहीं सकती। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरी बात मान सकता है, किन्तु अन्य का कुछ भी नहीं कर सकता। यह समझ लेने

के बाद अन्य का कार्य रुक जाएगा – ऐसा भी नहीं है। पहले भी पर, पर के कारण से होता था; त्रिकाल में पर के कारण से पर होता है, यही निश्चित है।

‘मुझे बन्धन हैं, मैं पराधीन हूँ’ इस प्रकार के सन्देह के कारण जीव को कभी भी सुख नहीं होता। पहले भ्रमपूर्ण जीवन की चिन्ता में जो विकार हुआ करता था, उसका सम्यग्दर्शन के द्वारा पहले छेद कर दिया कि कर्म के द्वारा त्रिकाल में भी जीव नहीं बँधता।

आत्मा, वस्तु है; उसका गुण, उससे पृथक् नहीं हो सकता। मात्र यह मान लिया है कि मेरे गुण, पर में हैं, इसलिए मानता है कि कर्म का बन्धन है और कहता है कि यदि कर्म का बन्धन नहीं है तो मोक्ष क्यों नहीं होता? उससे यह पूछा जाता है कि तू बँधा हुआ है – यह तूने माना है अथवा कर्म ने तुझे बाँध रखा है? जो बँधा है, वह अपने कारण से बँधा है; कोई भी तत्त्व दूसरे तत्त्व को नहीं बाँध सकता।

प्रश्न – मात्र आत्मा की बात करे तो जीव, पागल नहीं हो जाएगा?

उत्तर – आत्मा; अर्थात्, सत्य-असत्य के विवेक को जाननेवाला; जिसके यह विवेक नहीं है, वह पागल है। जिसने विवेक को जाना है, वह पागल नहीं होता। एक स्वतन्त्र तत्त्व आत्मा को पर से बद्ध मानना, वह स्वतन्त्रता की हत्या है। एक तत्त्व ‘है’ – ऐसा कहना और फिर कहना कि ‘पर से बँधा हुआ हूँ’ तो यह दोनों परस्पर विरोधी हैं। यदि ‘तू है’ तो तेरे

गुण तुझमें हैं, वे पर में नहीं चले गये। तेरे गुण, परमाणु में या शरीर में नहीं है। यदि तेरे गुण, तुझमें नहीं हैं तो तू लाएगा कहाँ से? भगवन्! तूने अपनी महिमा को सुना ही नहीं है, केवल संसार की बातों की हैं। तू अब तक बहुत बड़ा भार ढोता फिरा है, लेकिन वह सब व्यर्थ है।

मैं एक तत्त्व, पर से बद्ध हूँ, जहाँ यह माना, वहीं यह मान लिया गया कि मैं स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हूँ – यही मान्यता सर्व पापों का मूल है। कहा भी है – ‘पाप मूल अभिमान’ – इसका अर्थ यह है कि मैं; अर्थात्, एक आत्मा, पर का कुछ कर सकता हूँ और पर, मेरी सहायता करता है; जिसने यह माना, उसे स्वतन्त्र वस्तु की खबर नहीं है; इसलिए वह सबकी खिचड़ी कर देता है, इसी का नाम अहङ्कार है और यही पाप का मूल है।

मैं पर से बँधा हुआ हूँ, इस प्रकार की जो मान्यता है, वह स्वतन्त्र तत्त्व की हत्या करना है, यही सब पापों की जड़ है और इसमें से ही दुःख का वृक्ष फूलता-फलता है। मुझे पर से कोई हानि-लाभ नहीं है। पर में जो मोह है और पर में मेरेपने की जो मान्यता है, वही ही हानि की जड़ है।

पैसे का मिलना लाभ और हानि का कारण नहीं है किन्तु यदि यह परवस्तु हो तो मेरे लिए बहुत अच्छा हो – इस प्रकार की मान्यता; अर्थात्, मैं स्वयं सत्त्वहीन हूँ – ऐसी मान्यता ही दुःख और मोह है।

प्रश्न – इसे समझ लेने के बाद तत्काल ही सब कुछ छोड़ ही देते होंगे?

उत्तर - भीतर से विपरीतता छूट जाती है। वरना समझे बिना तो; अर्थात्, आत्मा की प्रतीति हुए बिना अनन्त बार साधु हो, त्यागी हो अथवा धर्मासन पर बैठे तो इससे कहीं धर्म नहीं होता। उच्चासन पर बैठने से धर्म नहीं होता। ऊँचा तो तब कहलाता है, जब यह दृढ़ प्रतीति हो जाए कि मेरा आत्मा ऊर्ध्वस्वभावी है और उसमें पर से हानि-लाभ होने की हीन मान्यता नष्ट हो जाए, यही ऊर्ध्व तत्त्व की प्रतीति है, वह यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि मान्यता के बदलते ही, उसी क्षण सब विषय-कषाय भी दूर हो जाएँ। वहाँ तो मात्र पूर्ण स्वतन्त्रता होने का कारण प्रगट हो जाता है।

पहले तो सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही था कि वह यह मान बैठा कि मैं पर से बँधा हूँ; इसलिए छूटने के लिए भी पर का उपाय चाहिए, किन्तु जहाँ मान्यता बदली कि मैं अपनी विपरीत मान्यता से बँधा हुआ हूँ, वहाँ स्वयं मान्यता को बदले बिना नहीं रहता। विपरीत मान्यता को बदल देना ही धर्म है। अरे भाई! यह बात सब जगह नहीं मिलेगी, बारम्बार नहीं मिलेगी।

जिसने यह मान लिया कि आत्मा पर से बँधा हुआ है, वह छूटने का उपाय भी पर में ही किया करता है। यदि मैं एक वस्तु हूँ तो वस्तु के गुण भी वस्तु में भरे ही हुए हैं, मात्र 'पर से गुण होता है' - ऐसा मान लिया था, यही भ्रमणा अपने गुणों को नहीं देखने देती थी। गुण और गुणी तो त्रिकाल हैं, मात्र अवस्था में भूल; अर्थात्, मलिनता का होना, वह संसार है और अवस्था में भूल का दूर हो जाना, वह मुक्ति है। आत्मा

स्वयं चिदानन्दस्वरूप ध्रुव है। करोड़ों रुपया देने पर भी यह एक शब्द कहीं नहीं मिल सकता है।

मैं मुक्त हूँ - ऐसी प्रतीति हुए बिना, मुक्त होने का बल प्रस्फुरित नहीं होता और मुक्ति नहीं होती।

'मैं पर से बँधा हुआ हूँ' - ऐसे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद और कषायभाव को सम्यक्त्वी छेद डालता है। अपने को बँधा हुआ मान रखा है, यही मान्यता स्वतन्त्र होने की रुचि नहीं होने देती। अनेक सादा और सरल सूत्र यहाँ कहे जाते हैं। यदि समझना चाहे तो आठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है, वरना शास्त्रपाठी अस्सी वर्ष का पण्डित भी नहीं समझ सकता।

अच्छा किसका करना है; जो हो, उसका या जो नहीं है, उसका? जो होता है, वह पर से बँधा हुआ नहीं होता। सम्यक्त्वी मिथ्याभ्रम को छेद डालता है। मैं पर से बँधा हुआ नहीं हूँ, एक तत्त्व पर से पराधीन नहीं हुआ। 'मैं निश्चय से कर्म से बँधा हुआ हूँ' - इस प्रकार की विपरीतमान्यता के चारपायरूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय को सम्यग्दृष्टि छेद डालता है। **मिथ्यात्व** - मैं पर से बद्ध हूँ - ऐसा भ्रम होना, वह मिथ्यात्व है। इस भ्रम के दूर होने के बाद जो अविरति, प्रमाद, कषाय सम्यग्दृष्टि के होती है, उसमें उसकी बुद्धि निम्न प्रकार होती है -

अविरति का अर्थ है असक्ति, किन्तु यह मेरा स्वरूप नहीं है। असक्ति की भूमिका में उसके राग-द्वेष होते हैं, फिर भी वह यह नहीं मानता कि वे मेरे हैं।

कषाय - क्रोधादि को कषाय कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जानता है कि वह मेरा स्वरूप नहीं है और इसलिए उसकी क्रोधादि में रुचि नहीं है।

प्रमाद - प्रमाद का अर्थ है, पुरुषार्थ की असक्ति, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है। यह राग, मेरे पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण वीर्य की हीनावस्था में होता है, वह वस्तु के स्वभाव में नहीं है - ऐसे निर्णय से वह रागादि को दृष्टि में से निकाल देता है। धर्मी का यह पहला चिह्न है, पहला लक्षण है। जहाँ यह नहीं है, वहाँ अण्डाकार गोल शून्य ही समझना चाहिए; अर्थात्, वहाँ धर्मीपना नहीं है - ऐसा जानना चाहिए।

आत्मा ने अनन्त काल से क्या किया है ?

‘पर मेरा है और मैं पर का हूँ’ - इसी मान्यता को पुष्ट किया है और इसी मान्यता के कारण अनादि से राग-द्वेषभावों को करता रहा है। इसके अतिरिक्त किसी आत्मा ने पर का कुछ नहीं किया, कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार मात्र विपरीतता ही करता रहा है। जहाँ गुण होता है, वहाँ अवगुण करता रहा है। आत्मा में पर नहीं है; इसलिए पर का आत्मा भी नहीं कुछ करता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में संक्रमण करे; अर्थात्, तद्रूप पणिमन करे, यह त्रिकाल में भी कभी नहीं होता। अभी तक विपरीत रुचि और राग-द्वेष किया है; इसलिए ‘धर्म’ के लिए पहले विपरीत रुचि को बदलना होगा।

आत्मा, अनादि अनन्त शाश्वत् तत्त्व है। जहाँ उसकी रुचि हो गयी, वहाँ मुझे बन्ध होगा - ऐसी शङ्का नहीं होती। वस्तु

अलग है, किन्तु मैंने ही बन्धन मान लिया था। वस्तु में बन्धन नहीं है, मात्र बन्धन की मान्यता की थी। दूसरे का करने के लिए, एक परमाणुमात्र को बदलने के लिए आत्मा समर्थ नहीं है। ‘मैंने पर को दिया’ - इस प्रकार का अभिभान जीव करता है, किन्तु एक तत्त्व दूसरे का कुछ कर सकता है, कुछ ले-दे सकता है - यह त्रिकाल में कभी नहीं हो सकता है।

यह अपने घर की वस्तु है, घर की वस्तु मँहगी नहीं होगी; मँहगा मान रखा है, यही मान्यता समझने नहीं देती। सम्यक्त्वी की सर्व प्रथम ऐसी बुद्धि होती है कि ‘मैं अलग हूँ - स्वतन्त्र हूँ।’ अपनी स्वतन्त्रता की एक बार हाँ तो कह! हाँ कहते ही ऐड़ी-चोटी का पसीना एक हो जाएगा, क्योंकि अनादि की मान्यता को बदलने के लिए अनन्त पुरुषार्थ चाहिए।

स्वतन्त्र आत्मतत्त्व की प्रतीति के बिना कोई सच्चा त्यागी अथवा साधु नहीं हो सकता। कोई सच्चा साधु न हो, इसलिए कहीं खोटे साधु को साधु नहीं कहा जाता। मानसरोवर में मोतियों को चुगनेवाला हंस ही होते हैं, किन्तु यदि हंस न हों तो हंस की जगह, कौए को हंस नहीं कहा जाता। सम्यग्दृष्टि ने परवस्तु का पहले ही नकार किया है कि ‘आत्मतत्त्व अपने स्वतन्त्र स्वभाव में पर की सत्ता को बिल्कुल नहीं घुसने देता।’

जगत के कार्यों में एक धन्धे की बात में दूसरा नहीं पड़ता। हलवाई के काम में जौहरी अपना स्थान नहीं बताता अथवा कुम्हार के काम में वकील अपना सिर नहीं मारता। जिसका जो काम होता है, उसमें दूसरा हाथ नहीं डालता, किन्तु धर्म

की बात में तो सभी निकल पड़े हैं कि 'यह ऐसा होता है और वह वैसा होता है।' यहाँ उससे कहते हैं कि अरे भाई! तुझे जगत् की कला की कीमत है, वहाँ एक की कला में दूसरा सयान नहीं करता, लेकिन यहाँ धर्म में सभी अपना सयान लगा देते हैं। लोगों ने धर्म को भाजी-मूला जैसी वस्तु बना रखा है। क्या धर्म मुफ्त की वस्तु है? उसे अनन्त काल में सुन पाना भी दुर्लभ है।

अरे! संसार के कामों में तो सब कुछ क्रमबद्ध होता है, वहाँ यदि हलुआ बनाना हो तो कुछ भी उल्टा-सीधा नहीं चल सकता, लेकिन धर्म में तो कहते हैं कि पहले क्रिया करो, बाद में समझ लेंगे, किन्तु समझे बिना क्रिया किसकी? सर्व प्रथम सच्ची समझ करनी होगी। वह पहली समझने की क्रिया है।

'गुड़ अन्धेरे में खाने पर भी मीठा लगता है' यह सच है, किन्तु पहले गुड़ पदार्थ का ज्ञान तो करना होगा न! सच्चे गुड़ को तो नहीं जाने और गोबर के गोले को मुँह में डाल ले तो वह मीठा नहीं लगेगा। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो शान्त है, किन्तु उसके स्वाद के लिए पहले, उसका ज्ञान करना होगा। सम्यग्दर्शन के बिना कदाचित् कोई कषाय मन्द हो जाए, किन्तु उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता।

एक बार स्वतन्त्रता की बात को तो ला! तू स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र होने के लिए 'मैं स्वतन्त्र हूँ किसी पर से मैं दबा हुआ नहीं हूँ' - इस प्रकार की प्रतीति का रटन किये बिना, यथार्थ भान नहीं होता। इस बात से तीन काल और तीन लोक में

कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। मुक्ति का मार्ग त्रिकाल में एक ही होता है, यदि कोई दूसरा मानता है तो वह उसके घर की मान्यता है।

सर्व प्रथम सम्यग्दृष्टि सन्देह को चूर-चूर कर देता है, उसके बाद दूसरी बात होती है। स्वतन्त्र स्वभाव में निःशङ्कता हुए बिना स्वतन्त्रता का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

वस्तु तो वस्तु स्वभाव से जैसी है, वैसी ही त्रिकाल में रहती है, वस्तु में पराधीनता या बन्धन नहीं है; वस्तु स्वाधीन है, किन्तु अपनी स्वाधीनता का पता नहीं था; इसलिए पराधीनता मान रहा है, किन्तु वस्तु पराधीन नहीं है।

सम्यक्त्व की आँखें खुले बिना, जगत् अनादिकाल से दबा चला जा रहा है। पहले तो कान में सत्य बात का पड़ना अनन्त काल में दुर्लभ है और यदि कभी कहीं सत्य बात कान में पड़ी भी तो बीच में विपरीतमान्यता के लक्कड़ डालकर सुनता है तो फिर वह समझे कहाँ से?

'मेरे गुण में पर का प्रवेश नहीं है, मैं अपनी भूल से अटक रहा हूँ; मेरा स्वरूप तो सिद्ध समान है' - इस प्रकार की श्रद्धा न होने से स्वभाव में निःसन्देहता नहीं आती। निःशङ्कता के बिना स्वाधीनता प्रगट नहीं होती।

अनन्त काल के अन्धकार को दूर करने के लिए कुल्हाड़ी या फावड़े की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु दियासलाई के घिसने से अन्धेरा दूर हो जाता है; इसी प्रकार अनादिकालीन अज्ञान को दूर करने के लिए बाह्य कर्म किया करे तो उससे

अज्ञान दूर नहीं होता, किन्तु चैतन्यमूर्ति समुद्र, ज्ञान प्रकाश से भरपूर है; उसकी श्रद्धा करके एकाग्रता के बल से केवलज्ञान का प्रकाश प्रगट होता है।

दियासलाई के सिरे पर प्रकाश प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, फिर भी मानता है, वह किसी के कहते से अथवा जगत् मानता है, इसलिए नहीं मानता, किन्तु स्वानुभव है, इसलिए वह ऐसा मानता है; इसी प्रकार आत्मा चैतन्यज्योति ज्ञान का समुद्र है, इसलिए पहले स्वयं श्रद्धा करे और उसके बाद उसकी एकाग्रता के बल से परमात्मा हो जाता है।

टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा होने पर 'मैं पर से बँधा हुआ हूँ' इस भ्रम को दूर कर डालता है। स्वतन्त्रता की श्रद्धा के बल के बिना, स्वतन्त्रता कभी प्रगट नहीं होती और जब तक पराधीनता दूर नहीं हो जाती, तब तक मुक्ति नहीं होती।

'मैं बँधा हुआ नहीं हूँ, मेरे स्वरूप में बन्धन है ही नहीं,' इस प्रकार जिसे तत्त्व की निर्बन्ध दृष्टि प्राप्त है, वह क्रमशः निर्जरा करके मुक्त हो जाएगा। पहले श्रद्धा चाहिए। ध्रुव स्वरूप के बल से आठों कर्मों का नाश करके सहजानन्द परमात्मा (जैसा कि भीतर मौजूद है) प्रगट हो जाता है।

शुभाशुभवृत्ति, आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा शुभाशुभ भाव जितना नहीं है। दयादि की वृत्ति क्षण-क्षण में नयी होती है, उस वृत्ति के समय अज्ञानी के इस मान्यता के कारण बन्धन होता है कि 'यह मेरे स्वरूप में है' और ज्ञानी 'मेरे स्वभाव में बन्धनभाव नहीं है, विकार नहीं है; अवस्था में अशक्ति के

कारण यह वृत्ति आ जाती है' – ऐसी प्रतीति में पर का (शुभाशुभ भावों का) धनी नहीं होता; इस प्रकार उसे स्वभाव का बल है; इसलिए वह पुरुषार्थ की असक्ति का स्वामित्व नहीं होने देता।

मेरे स्वभाव में कमी अथवा विकार नहीं है, पुरुषार्थ की कमजोरी भी मेरे स्वभाव में नहीं है; मात्र अवस्था में जो अशक्ति दिखाई देती है, वह वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति है, यह ज्ञानीजन जानते हैं।

ज्ञानी को टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण कर्मबन्ध सम्बन्धी शङ्का को करनेवाले; अर्थात्, मैं कर्मों से बँधा हुआ हूँ – ऐसा भय (सन्देह) उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्व आदि भ्रान्तिभावों का अभाव होता है; इसलिए वह निःशङ्क है; अर्थात्, 'मैं पर से बँध जाऊँगा' – ऐसा शङ्काकृत बन्ध ज्ञानी के नहीं होता, किन्तु उसके निर्जरा ही होती है।

(आत्मधर्म, वर्ष-2, अङ्क-1, संवत्-2472, पृष्ठ 4-9)



उपदेश में निमित्त का कथन क्यों ?

कहाँ तो चैतन्य भगवान आत्मा का स्वभाव और कहाँ जड़ कर्म का स्वभाव! यदि तू आत्मस्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान नहीं करेगा और मात्र जड़कर्मों को मानेगा तो बन्धनों को किसके बल से तोड़ेगा? जो जड़ में आत्मबुद्धि करता है, उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति कैसे हो सकती है? ज्यों ही आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ, निमित्त का आश्रय छूटा, त्यों ही जन्म-मरण का अभाव हो जाता है परन्तु मात्र निमित्त का ही लक्ष्य करे और उपादान को न जाने तो मुक्ति कदापि नहीं हो सकती। उपादान के लक्षित हो जाने पर शुद्ध चैतन्यस्वभाव या ज्ञानस्वभाव की स्थायी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता का प्रादुर्भाव होने पर, बन्ध का नाश अवश्य होता है।

बन्ध के स्वरूप को जान लेना और उनका विचार करना ही बन्धन से मुक्ति का उपाय नहीं है, अपितु बन्धन से मुक्ति का उपाय तो पूर्ण सामर्थ्य की दृष्टिपूर्वक पुरुषार्थ ही है। निकाचितकर्म भी जड़ हैं, वे आत्मा के पुरुषार्थ को रोक नहीं सकते। आत्मा के जिस वीर्य ने विपरीत पुरुषार्थ करके कर्मबन्ध किया है, वह वीर्य सुल्टा होवे तो क्षणमात्र में कर्मों को तोड़ सकता है।

भाई! तू, उत्कृष्ट स्थितिवाला है या कर्म? किसकी स्थिति अधिक है? हे आत्मा! सर्व शक्ति तुझमें ही भरी है परन्तु अनादि काल से तूने पर का ही आश्रय धारण किया है; अतः तुझे स्वाश्रय की प्रतीति ही नहीं है। घर में विवाहोत्सव के समय 'भंगी जीम गया या नहीं' इस तरह भंगी को तो याद करे, परन्तु घर के भाई जीम गये या नहीं? - इस बात को याद नहीं करे तो क्या योग्य है? जिस प्रकार भाई को भूलकर, भंगी को याद करना मूर्खता ही है; इसी प्रकार अनन्त गुण के पिण्डरूप, सर्वदा सहचारी बन्धुरूप चैतन्यभगवान का तो आदर नहीं करे, पहिचान नहीं करे और अल्प कालवर्ती कर्म से मैत्री स्थापित करे तो ऐसा करनेवाले सिवाय मूर्ख के और क्या कहे जाएँगे? ऐसे अज्ञानी प्राणी मुक्ति नहीं पा सकते।

तुझे निमित्त का जो ज्ञान बताया, वह इसलिए नहीं था कि निमित्त को तू प्रबल मान बैठे और तू उसका दास हो जाए। निमित्त का कथन तो इसलिए था कि तू उसके आधीन होकर जो विकार करता है, वह तेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार सत्य पुरुषार्थ जागृत करने के लिए ही वह कथन था। निमित्त का कथन इसलिए नहीं किया था कि तू उस से चिपटकर अपने को नगण्य मान बैठे। इसलिए कर्म की दृष्टि को त्याग और शुद्धस्वरूप का लक्ष्य कर!

देखो, भगवान का उपदेश धर्मवृद्धि के लिए है। उसे तद्रूप न समझ कर विरुद्ध माननेवाले को तो वीतराग-वाणी के निमित्त का भी ज्ञान नहीं है - यह स्पष्ट है।

‘सब जीवों को शासन प्रेमी बना दूँ’ – इस शुभभावपूर्वक बाँधे गए तीर्थङ्करनामकर्म के उदय होने पर जो वीतराग की दिव्यध्वनि खिरती है, वह स्वभावधर्म (आत्मधर्म) की वृद्धि के लिए ही है। वह ध्वनि उद्घोषित करती है कि हे प्राणी! तू जाग, जाग!! तेरी मुक्ति अल्प काल में ही होनेवाली है। तेरा स्वभाव परिपूर्ण पुरुषार्थ है, इसकी पहिचान कर! इसलिए शास्त्र में निमित्त का उपदेश तुझे किया गया है। ●●

(आत्मधर्म, अङ्क-6, वर्ष 1, पृष्ठ 85)

मुनिदशा का सहज स्वरूप

ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद, अन्दर में विकल्प का त्याग और बाहर में वस्त्र के टुकड़े का भी त्याग करके पूर्ण ज्ञानस्वरूप का अभ्यास करते हैं, उपयोग को स्वरूप में ही थमाते हैं। अहा! वे निज आत्मबाग में अतीन्द्रिय आनन्द की क्रीड़ा करते हैं; उन्हें सर्व बाह्य परिग्रह छूट जाता है। निराकुल आनन्द में झूलनेवाले वीतरागी सन्त-मुनिराज को बाहर में वस्त्र भी नहीं और अन्तरङ्ग में विकल्प भी नहीं। बापू! अन्य चीज तो क्या, वस्त्र के धागे का भी परिग्रह मुनि को नहीं हो सकता है। ऐसा ही मुनिदशा का सहज स्वरूप है, जो इससे विपरीत मानता है, वह मूढ़-मिथ्यादृष्टि हैं।

(- प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 209)

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता

उपादान है; निमित्त है; दोनों का अस्तित्व होते हुए भी दोनों स्वतन्त्र हैं, अपना-अपना कार्य स्वयं करते हैं – यह बात इस प्रवचन में अनेक उदाहरणों के द्वारा समझायी है।

उपादान-निमित्त

उपादान किसे कहना चाहिए और निमित्त किसे कहना चाहिए ?

आत्मा की शक्ति को उपादान कहते हैं और पर्याय की वर्तमान योग्यता को भी उपादान कहते हैं। जिस अवस्था में कार्य होता है, उस समय की वह अवस्था स्वयं ही उपादानकारण है; और उस समय उसे अनुकूल परद्रव्य, निमित्त है। निमित्त के कारण उपादान में कुछ नहीं होता। यहाँ उपादान-निमित्त सम्बन्धी विविध प्रकार की मिथ्यामान्यताओं को दूर करने के लिए अनेक दृष्टान्तों के द्वारा उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त समझाया जा रहा है।

गुरु के निमित्त से ज्ञान नहीं होता

आत्मा में जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा की पर्याय की शक्ति से होता है या शास्त्र के निमित्त से होता है ?

आत्मा की पर्याय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, निमित्त से

ज्ञान नहीं होता। जिस समय आत्मा की पर्याय में पुरुषार्थ के द्वारा सम्यग्ज्ञान प्रगट करने की योग्यता होती है और आत्मा, सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, उस समय गुरु को निमित्त कहा जाता है, किन्तु वह ज्ञान, गुरु से नहीं हुआ है। इस प्रकार दोनों की स्वतन्त्रता है।

जब जीव में प्रथम सम्यग्ज्ञान का पुरुषार्थ होता है, तब गुरु की देशना का योग होता ही है, किन्तु जब तक जीव का लक्ष्य वाणी की ओर है, तब तक राग है और जब जीव, वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का निर्णय करता है, तब सम्यग्ज्ञान होता है और गुरु को उसका निमित्त कहा जाता है। गुरु के बहुमान से शिष्य यह भी कहता है कि मुझे गुरु से ज्ञान हुआ, गुरु ने बड़ा उपकार किया।

यह कहना कि मुझे 'गुरु से ज्ञान हुआ है', विनय का व्यवहार है।

प्रश्न — ज्ञान तो स्वयं से ही हुआ है, गुरु से नहीं हुआ, यह जानते हुए भी यों कहना कि गुरु से ज्ञान हुआ है, क्या कपट नहीं कहलायेगा ?

उत्तर — व्यवहार में ऐसा ही कहा जाता है, यह कपट नहीं किन्तु यथार्थ सिद्धान्त है। गुरु के बहुमान का शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिए निमित्त में आरोप किया जाता है।

प्रश्न — गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है, वह तो ठीक है, किन्तु यह क्यों कहा जाता है कि 'गुरु से ज्ञान हुआ है ?'

उत्तर — बहुमान का विकल्प उठा है, इसलिए निमित्त में आरोप करके व्यवहार से वैसा कहा जाता है। आरोप की भाषा ऐसी ही होती है, किन्तु वास्तव में गुरु से ज्ञान नहीं हुआ है। यदि

गुरु से ज्ञान होवे तो सभी को ज्ञान हो जाता। जो स्वयं पुरुषार्थ से ज्ञान करता है, उसी के लिए गुरु को निमित्तरूप में माना जाता है - यही सिद्धान्त है।

मिट्टी में घटरूप पर्याय होने की योग्यता सदा की नहीं, उसी समय की है।

मिट्टी से घड़ा बनता है, वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण नहीं बना है। कोई यह कहे कि मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है, किन्तु जब कुम्हार ने बनाया, तब घड़ा बना, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता सदा नहीं है, किन्तु वर्तमान उसी समय की पर्याय में यह योग्यता है और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है, उस समय ही अपने उपादान से घड़ा होता है। अन्य पदार्थों से मिट्टी को अलग पहचानने के लिए द्रव्यार्थिकनय से यह कहा जाता है कि 'मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता है' किन्तु वास्तव में तो जब घड़ा होता है, उसी समय उसमें घड़ा होने की योग्यता थी, उससे पूर्व उसमें घड़ा होने की योग्यता नहीं थी, किन्तु दूसरी पर्यायों होने की योग्यता थी।

शिष्य की श्रद्धा और गुरु की स्वतन्त्रता

आत्मा, पुरुषार्थ से सच्ची श्रद्धा करता है, यह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है और गुरु अपने कारण से उपस्थित हैं। ऐसा नहीं है कि जीव ने श्रद्धा की, इसलिए गुरु को आना पड़ा और ऐसा भी नहीं है कि गुरु आये, इसलिए उनके कारण जीव को श्रद्धा हुई; दोनों अपने कारण से हैं।

यदि ऐसा माने कि गुरु आये, इसलिए श्रद्धा हुई, तो गुरु कर्ता और शिष्य की श्रद्धा-पर्याय उनका कार्य; इस प्रकार दो भिन्न द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना हो जाएगा। अथवा ऐसा माने कि जीव ने श्रद्धा की, इसलिए गुरु आ गये, तो श्रद्धा करना कारण और गुरु का आना उसका कार्य कहलायेगा; इस प्रकार दो द्रव्यों में कर्ता-कर्मपना हो जाएगा, जो कि सिद्धान्त विरुद्ध है। जो श्रद्धा हुई, वह श्रद्धा की पर्याय के कारण हुई और जो गुरु आये, वह गुरु की पर्याय के कारण से आये। इस प्रकार दोनों स्वतन्त्र हैं।

शास्त्र और ज्ञान की स्वतन्त्रता

शास्त्र के सामने आ जाने से ज्ञान हो गया हो – ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस समय ज्ञान की अपनी योग्यता है। उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञानरूप परिणमन करता है और शास्त्र, निमित्त के रूप में विद्यमान है। ज्ञान होना हो, इसलिए शास्त्र को आना ही पड़े – ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि शास्त्र आया, इसलिए ज्ञान हुआ है।

आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव का विशेषरूप परिणमन होकर ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान, निमित्त के अवलम्बन के बिना और राग के आश्रय के बिना सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही होता है।

कुम्हार और घड़ा दोनों की स्वतन्त्रता

मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता है, उसी समय वह अपने उपादान से ही घड़े के रूप में परिणमित होती है और उस समय कुम्हार की उपस्थिति स्वयं उसके कारण से रहती है अथवा नहीं भी रहती, क्योंकि बाद में कुम्हार की

उपस्थिति नहीं होते हुए भी मिट्टी में घड़ारूप परिणमन चलता ही रहता है।

जब घड़ा बनता है, तब उस समय कुम्हार आदि नहीं हों – ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कुम्हार आया, इसलिए मिट्टी की अवस्था घड़ारूप हो गई – यह बात भी नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि घड़ा बनना था, इसलिए कुम्हार को आना पड़ा। वस्तुतः मिट्टी में उस समय की स्वतन्त्र पर्याय की योग्यता से घड़ा बना है और उस समय कुम्हार अपनी पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से उपस्थित था, किन्तु कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया; कुम्हार और घड़ा दोनों के परिणमन स्वतन्त्र हैं।

एक पर्याय में दो प्रकार की भिन्न-भिन्न योग्यता नहीं होती

प्रश्न — जब तक कुम्हाररूप निमित्त नहीं था, तब तक मिट्टी में से घड़ा क्यों नहीं बना ?

उत्तर — यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि जिस समय मिट्टी में से घड़ा नहीं बना, उस समय क्या उसमें घड़ा बनने की योग्यता थी ? अथवा उसमें घड़ा बनने की योग्यता ही नहीं थी ?

यदि ऐसा माना जाए कि जब 'मिट्टी में से घड़ा नहीं बना था तब उस समय भी मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता थी, परन्तु निमित्त नहीं मिला, इसलिए घड़ा नहीं बना,' तो यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि जब मिट्टी में घड़ारूप अवस्था नहीं हुई, तब उसमें पिण्डरूप अवस्था है और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है। जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिण्डरूप अवस्था की योग्यता होती है, उसी समय उसमें घड़ारूप अवस्था

की योग्यता नहीं हो सकती क्योंकि एक ही पर्याय में एक साथ भिन्न-भिन्न दो प्रकार की योग्यताएँ कदापि नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्व का है; अतः इसे प्रत्येक जगह लागू करना चाहिए।

इस सिद्धान्त से यह निश्चित हुआ कि मिट्टी में जिस समय पिण्डरूप अवस्था थी, उस समय उसमें घड़ारूप अवस्था की योग्यता ही नहीं थी; इसलिए उससे घड़ा नहीं बना, परन्तु यह बात मिथ्या है कि मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता तो थी, परन्तु कुम्हार नहीं था, इसलिए घड़ा नहीं बना।

जीव निमित्तों को मिला या हटा नहीं सकता

मात्र अपना लक्ष्य बदल सकता है।

जीव अपने में शुभभाव कर सकता है, किन्तु शुभभाव करने से वह बाहर के शुभ निमित्तों को प्राप्त कर सके अथवा अशुभ निमित्तों को दूर कर सके - यह बात नहीं है। जीव स्वयं अशुभ निमित्तों से अपना लक्ष्य हटाकर शुभ निमित्तों का लक्ष्य कर सकता है, किन्तु निमित्तों को निकट लाने अथवा दूर करने में वह समर्थ नहीं है।

किसी जीव ने जिनमन्दिर अथवा किसी अन्य धर्मस्थान का शिलान्यास करने का शुभभाव किया; इसलिए जीव के भाव के कारण बाह्य में शिलान्यास की क्रिया हुई - ऐसा नहीं है। जीव निमित्त का लक्ष्य कर सकता है अथवा लक्ष्य छोड़ सकता है, किन्तु वह निमित्तरूप परपदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे समझना ही भेदज्ञान है।

पञ्च महाव्रत के राग और शुद्धचारित्रदशा की भिन्नता एवं चारित्र व वस्त्रत्याग दोनों की स्वतन्त्रता

जिसे आत्मा की निर्मल, वीतरागचारित्रदशा होती है, उसके वह दशा होने से पूर्व चारित्र अङ्गीकार करने का विकल्प उत्पन्न होता है। जो विकल्प उत्पन्न हुआ, वह तो राग है, उसके कारण वीतरागभावरूप चारित्र प्रगट नहीं होता; चारित्र तो उसी समय स्वरूप की लीनता से प्रगट हुआ है।

चारित्रदशा में मुनि के शरीर की नग्नदशा ही होती है। आत्मा को चारित्र अङ्गीकार करने का विकल्प उत्पन्न हुआ उसके कारण, अथवा चारित्रदशा प्रगट की इसलिए शरीर से वस्त्र हट गये - ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस समय वस्त्रों के परमाणुओं की अवस्था वैसी ही योग्यतावाली थी; इसलिए वे हट गये हैं। आत्मा ने विकल्प किया, इसलिए उस विकल्प के आधीन होकर वस्त्र छूट गये, यदि ऐसा हो तो विकल्प कर्ता हुआ और वस्त्र छूटना उसका कर्म हुआ अर्थात् चेतन व जड़ दोनों द्रव्य एक हो गये। तथा ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र छूटना था, इसलिए जीव को विकल्प उठा क्योंकि यदि ऐसा हो तो वस्त्र की पर्याय कर्ता और विकल्प उसका कर्म कहलायेगा और इस प्रकार दो द्रव्य एक हो जाएँगे।

वास्तविकता यह है कि जब स्वभाव के भानपूर्वक चारित्र का विकल्प उत्पन्न होता है और जीव, चारित्र ग्रहण करता है, तब वस्त्र छूटने का प्रसङ्ग सहज ही उसके कारण से होता है, किन्तु 'मैंने वस्त्रों का त्याग किया' अथवा 'मेरे विकल्प से वस्त्र छूट गये' - ऐसी कर्तृत्वबुद्धि धर्मी के नहीं है। चारित्रदशा में पञ्च

महाव्रतादि का विकल्प होता है, किन्तु उस विकल्प के आश्रय से चारित्रदशा नहीं होती।

चारित्र में पञ्च महाव्रत के विकल्प को निमित्त कहा जाता है। वास्तव में विकल्प तो राग है, उससे स्वभावोन्मुख नहीं हुआ जाता, किन्तु जब जीव, विकल्प को छोड़कर स्वभावसन्मुख होता है, तब विकल्प को निमित्त कहा जाता है। पञ्च महाव्रतादि के विकल्प को चारित्र का निमित्त कब कहा जाता है? यदि स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ करके चारित्रदशा प्रगट करे तो विकल्प को उसका निमित्त कहा जा सकता है।

यह मान्यता मिथ्या है कि पञ्च महाव्रत के विकल्प के आश्रय से चारित्र प्रगट होता है तथा मैं व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र के परिणाम करूँ, तो उससे निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र प्रगट होते हैं - यह मान्यता भी मिथ्यात्व है।

समय-समय की स्वतन्त्रता और भेदज्ञान

यह प्रत्येक वस्तु के स्वतन्त्र स्वभाव की बात है। स्वभाव की स्वतन्त्रता को न समझे और यह माने कि 'निमित्त से कार्य होता है' तो वहाँ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान नहीं है और सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के बिना शास्त्र का पठन-पाठन सच्चा नहीं है, व्रत सच्चे नहीं हैं, त्याग सच्चा नहीं है। प्रत्येक वस्तु में समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता है। प्रत्येक पदार्थ में उसी के कारण से अर्थात् समय-समय की उसकी पर्याय की योग्यता से कार्य होता है। पर्याय की योग्यता उपादानकारण है और उस समय, उस कार्य के लिए अनुकूलता का आरोप जिस पर आ सकता है - ऐसी योग्यतावाली दूसरी वस्तु

को निमित्त कहा जाता है; किन्तु उस निमित्त के कारण वस्तु में कुछ परिवर्तन नहीं होता - ऐसी उपादान-निमित्त की भिन्नता की यथार्थ प्रतीति ही भेदज्ञान है।

आत्मा और जड़ सब की पर्याय स्वतन्त्र है। जीव को पढ़ने का विकल्प हुआ, इसलिए पुस्तक हाथ में आ गयी - ऐसी बात नहीं है अथवा पुस्तक आ गयी, इसलिए विकल्प उत्पन्न हुआ - ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना था, इसलिए पढ़ने का विकल्प उठा - ऐसा भी नहीं है और पढ़ने का विकल्प उठा, इसलिए ज्ञान हुआ - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान, पुस्तक और विकल्प तीनों ने अपना-अपना कार्य किया है।

वीतरागी भेदविज्ञान यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ, प्रति समय अपने स्वतन्त्र उपादान से ही कार्य करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा पराधीन नहीं है कि निमित्त आये तो उपादान का कार्य हो; उपादान का कार्य स्वतन्त्र अपनी ही सामर्थ्य से ही होता है।

सूर्य का उदय और छाया से धूप - दोनों की स्वतन्त्रता

जिस समय परमाणु की अवस्था में छाया से धूप होने की योग्यता होती है, उसी समय धूप होती है और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप हैं। यह बात मिथ्या है कि सूर्य का उदय हुआ, इसलिए छाया से धूप हो गयी अथवा छाया में से धूप अवस्था होनी थी, इसलिए सूर्य इत्यादि को आना पड़ा - यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ - यह उसकी उस समय की योग्यता है और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं - यह उनकी उस समय की वैसी ही योग्यता है।

केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचसंहनन की स्वतन्त्रता

जब केवलज्ञान होता है, तब वज्रवृषभनाराचसंहनन ही निमित्त होता है, अन्य संहनन नहीं होते, किन्तु ऐसा नहीं है कि वज्रवृषभ-नाराचसंहनन निमित्तरूप है, इसलिए केवलज्ञान हुआ और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान के कारण परमाणुओं को वज्रवृषभ-नाराचसंहननरूप होना पड़ा। जहाँ जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुरुषार्थ की जागृति होती है, वहाँ शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभ-नाराचसंहननरूप अवस्था उनकी ही योग्यता से होती है; दोनों की योग्यताएँ स्वतन्त्र हैं, किसी के कारण कोई नहीं है।

जब जीव के केवलज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होती है, तब शरीर के परमाणुओं में वज्रवृषभनाराचसंहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है - ऐसा सुमेल स्वभाव से ही है, कोई एक दूसरे के कारण नहीं है।

पेट्रोल और मोटर - दोनों की स्वतन्त्रता

कोई मोटर चली जा रही हो और उसकी पेट्रोल की टङ्की के फूट जाने से उसमें से पेट्रोल निकल जाए और चलती हुई मोटर रुक जाए, तो वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि पेट्रोल निकल गया है, इसलिए मोटर रुक गयी है। जिस समय मोटर के परमाणुओं में गतिरूप अवस्था की योग्यता होती है, उस समय वह गति करती है। मोटर का प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतन्त्र क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गमन करता है; इसलिए यह बात ठीक नहीं है कि पेट्रोल निकल गया, इसलिए मोटर की गति रुक गयी। जिस क्षेत्र में जिस समय उसके रुकने की योग्यता थी, उसी क्षेत्र में और उसी समय मोटर रुकी है।

जीव, वाणी का कर्ता नहीं

जीव को बोलने का विकल्प-राग हुआ, इसलिए वाणी बोली गयी - ऐसा नहीं है और वाणी बोली जानेवाली थी, इसलिए विकल्प हुआ - ऐसा भी नहीं है। यदि जीव के राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्ता और वाणी उसका कर्म कहलायेगा और यदि ऐसा हो कि वाणी बोली जानेवाली थी, इसलिए राग हुआ तो वाणी के परमाणु कर्ता और राग उसका कर्म कहलायेगा, परन्तु राग तो जीव की पर्याय है और वाणी, परमाणु की पर्याय है, उनमें कर्ता-कर्म भाव कैसे होगा? यदि जीव की पर्याय की योग्यता हो तो राग होता है और वाणी उन परमाणुओं का उस समय का सहज परिणाम है। जब परमाणु स्वतन्त्रतया वाणीरूप परिणमित होते हैं, तब जीव के राग हो तो उसे निमित्त कहा जाता है। केवली भगवान के वाणी होती है, तथापि राग नहीं होता। (इसलिए राग, वाणी का नियमरूप निमित्त भी नहीं है।)

शरीर का गमन और जीव की इच्छा - दोनों की स्वतन्त्रता

जीव, इच्छा करता है, इसलिए शरीर चलता है - यह बात नहीं है और शरीर चलता है, इसलिए जीव को इच्छा होती है - ऐसा भी नहीं है। जब शरीर के परमाणुओं में क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गति होती है, तब किसी जीव के अपनी अवस्था की योग्यता से इच्छा होती है और किसी के नहीं भी होती है। केवली के शरीर की गति होने पर भी इच्छा नहीं होती। अतः दोनों स्वतन्त्र हैं।

विकल्प और ध्यान - दोनों की स्वतन्त्रता

चैतन्य के ध्यान का विकल्प उठता है, वह राग है। उस

विकल्परूपी निमित्त के कारण ध्यान जमता हो - ऐसी बात नहीं है, किन्तु जहाँ ध्यान जमता हो, वहाँ पहले विकल्प होता है। विकल्प के कारण ध्यान नहीं होता और ध्यान के कारण विकल्प नहीं होता। जिस पर्याय में विकल्प था, वह उस पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से था और जिस पर्याय में ध्यान जमा है, वह उस पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता से जमा है।

सम्यक्नियतिवाद अर्थात् सर्वज्ञवाद और उसका फल

प्रश्न — यह तो नियतिवाद हो गया ?

उत्तर — यह सम्यक्नियतिवाद है, मिथ्यानियतिवाद नहीं है। सम्यक्नियतिवाद का क्या अर्थ है ? यही कि जिस पदार्थ में, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जैसा होना है, वैसा होता ही है, उसमें किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है - ऐसा ज्ञान में निर्णय करना, सम्यक्नियतिवाद है और उस निर्णय में ज्ञानस्वभाव की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

जिस ज्ञान ने यह निर्णय किया कि सभी नियति है, उस ज्ञान में यह भी निर्णय हो गया कि किसी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करना या राग-द्वेष करना मेरा कार्य नहीं है। इस प्रकार नियत का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' - ऐसा अहंकार दूर हो गया और ज्ञान, पर से उदासीन होकर, स्वभावसन्मुख हो गया। अब, राग के होने पर भी उसका निषेध करके, ज्ञान, द्रव्यस्वभाव की ओर सन्मुख होता है। जब पर्याय को जानता है, तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी क्रमबद्धपर्यायें मेरे द्रव्य

में से प्रगट होती हैं। त्रिकाल द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को द्रवित करता है। वह त्रिकाल द्रव्य, रागस्वरूप नहीं है; इसलिए जो राग हुआ है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। इस प्रकार जिसने अपने ज्ञान में द्रव्यस्वभाव का निर्णय किया, उस जीव का ज्ञान अपने शुद्ध स्वभाव के सन्मुख होता है और उसको सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं; वह पर से उदासीन हुआ है। राग का अकर्ता होकर, पर से तथा विकार से हटकर, उसकी बुद्धि ज्ञानस्वभाव में ही झुक गयी है; यह सम्यक् नियतिवाद का और सर्वज्ञ के निर्णय का फल है। इसमें ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वीकृती है, किन्तु जो जीव एकान्तनियतिवाद को मानता है अर्थात् नियति के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसका स्वीकार नहीं करता और स्वभावसन्मुख नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है और उसका नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व का भेद है, इसलिए वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

सम्यक्नियतिवाद में पाँचों समवाय

जो अज्ञानी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो एकान्त नियतिवाद है किन्तु इस नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करने पर अपने केवलज्ञान का निर्णय हो जाता है। अस्थिरता का जो विकल्प उठता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है; इस प्रकार राग का कर्तृत्व उड़ जाता है। ऐसे सम्यक्नियतिवाद की श्रद्धा में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

पहले तो स्वभाव का ज्ञान और श्रद्धा की, वह **पुरुषार्थ**;

उसी समय जो निर्मलपर्याय प्रगट होनी नियत थी, वही पर्याय प्रगटी है, यह **नियत**;

उस समय जो पर्याय प्रगट हुई, वही **स्वकाल**;

जो पर्याय प्रगट हुई, वह स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई, इसलिए वह **स्वभाव**;

उस समय पुद्गलकर्म का स्वयं अभाव होता है, वह अभावरूप निमित्त एवं सद्गुरु इत्यादि हों, वे सद्भावरूप **निमित्त** हैं।

पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, इसकी श्रद्धा करने पर अथवा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने पर जीव, जगत् का साक्षी हो जाता है। इसमें स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है – यह जैनदर्शन का मूलभूत रहस्य है।

सम्यक्नियतिवाद और मिथ्यानियतिवाद

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की 882 वीं गाथा में जिस नियतिवादी जीव की गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है, वह जीव तो नियतिवाद की बात करता है, किन्तु वह न तो सर्वज्ञ को मानता है और न अपने ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापने का पुरुषार्थ करता है। यदि सम्यक्नियतिवाद का यथार्थ निर्णय करे तो उसमें सर्वज्ञ का निर्णय और स्वभाव के ज्ञाता-दृष्टापने का पुरुषार्थ आ ही जाता है और यह सम्यक्निर्णय गृहीत एवं अगृहीतमिथ्यात्व का नाश करनेवाला है। सम्यक्-नियतिवाद कहो या स्वभाव कहो; उसमें प्रत्येक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है। यदि इस न्याय को जीव भलीभाँति समझे तो उपादान-निमित्त सम्बन्धी सभी गड़बड़ दूर हो जाए, क्योंकि जिस वस्तु में जिस समय जो पर्याय होती है, वही होती है, तो फिर 'निमित्त उसको करे या निमित्त के बिना वह न हो' – इस बात को अवकाश ही कहाँ है? जो जीव सर्वज्ञ को जानकर,

नियतिवाद को मानकर, पर के और राग के कर्तृत्व का अभाव करता है तथा ज्ञाता-दृष्टापनेरूप साक्षीभाव प्रगट करता है, वह जीव अनन्त पुरुषार्थी सम्यग्दृष्टि है।

कौन कहता है कि सम्यक्नियतिवाद, गृहीतमिथ्यात्व है ?

सम्यक्नियतिवाद, गृहीतमिथ्यात्व नहीं किन्तु वीतरागता का कारण है। जो सर्वज्ञ के स्वीकाररूप ऐसे सम्यक्नियतिवाद को एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं, उन्होंने इस बात को यथार्थतया समझा तो नहीं, भलीभाँति सुना तक नहीं है।

सम्यक्नियतिवाद के निर्णय में तो वस्तु की स्वतन्त्रता की प्रतीति है और केवलज्ञान की प्रतीति है। अपनी अवस्था का आधार द्रव्य है और द्रव्यस्वभाव शुद्ध है – ऐसी प्रतीति के साथ 'जो होना हो सो होता है' इस प्रकार जो मानता है, वह जीव वीतरागदृष्टि है। उसका निर्णय वीतरागता का कारण है।

नियतिवाद के दो प्रकार हैं — एक सम्यक्नियतिवाद और दूसरा मिथ्यानियतिवाद। सम्यक्नियतिवाद, वीतरागता का कारण है, उसका स्वरूप ऊपर बताया है। कोई जीव इस प्रकार नियतिवाद को मानता तो है कि 'जैसा होना हो, वैसा ही होता है' किन्तु पर का लक्ष्य और पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावसन्मुख नहीं होता अथवा नियति का निश्चय करनेवाले अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता को जो स्वीकार नहीं करता; पर और विकार के कर्तृत्वरूप अभिमान को नहीं छोड़ता; इस प्रकार पुरुषार्थ का निषेध करके स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करता है, उसे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है, उसका नियत एकान्त नियतिवाद है।

‘जो होना हो सो होता है’ इस प्रकार मात्र परलक्ष्य से मानना यथार्थ नहीं है। ‘होना हो सो होता है’ यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव का ज्ञान, पर के प्रति उदासीन होकर, अपने स्वभाव की ओर झुक जाए और उस ज्ञान में यथार्थ शान्ति व पर का अकर्तृत्व हो जाए। उस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, नियति, काल, स्वभाव और कर्म, यह पाँचों समवाय आ जाते हैं।

प्रश्न — मिथ्यानियतिवादी जीव भी, जब परवस्तु बिगड़ जाती है अथवा नष्ट हो जाती है, तब यह मानकर शान्ति तो रखता ही है कि ‘जैसा होना था सो हो गया’ तब फिर उसके नियतिवाद को सच्चा क्यों नहीं माना जाए ?

उत्तर — वह जीव जो शान्ति रखता है, वह यथार्थ शान्ति नहीं है, किन्तु मन्दकषायरूप शान्ति है। यदि नियतिवाद का यथार्थ निर्णय हो तो, जिस प्रकार उस एक पदार्थ का जैसा होना था, वैसा हुआ; उसी प्रकार समस्त पदार्थों का जैसा होना हो, वैसा ही होता है – ऐसा भी निर्णय होना चाहिए और यदि ऐसा निर्णय हो तो फिर यह सब मान्यताएँ दूर हो जाती है कि ‘मैं परद्रव्य का निमित्त होकर उसका कार्य करूँ।’ जिस कार्य में, जिस समय, जिस निमित्त की उपस्थिति रहनी हो, उस कार्य में, उस समय, वह निमित्त स्वयमेव होता ही है, तब फिर ऐसी मान्यताओं को अवकाश ही कहाँ रहेगा कि ‘निमित्त मिलाना चाहिए’ अथवा निमित्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता? यदि सम्यक्-नियतिवाद का निर्णय हो तो निमित्ताधीनदृष्टि दूर हो जाती है।

प्रश्न — मिथ्यानियतिवाद को गृहीतमिथ्यात्व क्यों कहा है ?

उत्तर — निमित्त से धर्म होता है, राग से धर्म होता है, शरीरादि का आत्मा कुछ कर सकता है – ऐसी मान्यता के रूप में अगृहीत-मिथ्यात्व अनादिकाल से विद्यमान था और जन्म के बाद शास्त्रों को पढ़कर अथवा कुगुरु इत्यादि के निमित्त से मिथ्या-नियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया; इसलिए उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा जाता है। पहले जिसे अनादिकालीन अगृहीत-मिथ्यात्व होता है; उसी को गृहीतमिथ्यात्व होता है।

जीव, इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि के लिए ‘जो होना होगा सो होगा’ ऐसा कहकर साता में रञ्जित होने की आदत से स्वच्छन्दता का मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं, उसका नाम गृहीत-मिथ्यात्व है। वह जीव न तो सर्वज्ञ को पहचानता है और न वस्तु के स्वरूप को ही जानता है। सम्यक्नियतिवाद तो स्वभावभाव है, स्वतन्त्रता है, वीतरागता है; उसमें सर्वज्ञ की और वस्तुस्वभाव की पहचान है।

सम्यक्नियतिवाद के निर्णय से निमित्ताधीनदृष्टि

और स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अभाव

जिस वस्तु में, जिस समय, जैसी पर्याय होनी हो और जिस निमित्त की उपस्थिति में होनी हो; उस वस्तु में, उस समय, वैसी पर्याय होती ही है और वे निमित्त ही उस समय होते हैं – इस नियम में तीन लोक और तीन काल में कोई परिवर्तन नहीं होता। यही यथार्थ नियति का निर्णय है; इसमें आत्मस्वभाव के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आ जाते हैं और निमित्त की दृष्टि दूर हो जाती है। जिसकी

ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कर्ता तो नहीं हूँ किन्तु मैं निमित्त बनकर उसकी पर्याय में आगे-पीछे कर दूँ', वह मिथ्यादृष्टि है।

यह निमित्त है, इसलिए पर का कार्य होता है - ऐसी बात नहीं है, किन्तु प्रस्तुत वस्तु में उसकी योग्यता से जो कार्य होता है, उसमें अन्य वस्तु की निमित्त कहा जाता है। वस्तु में कार्य नहीं होना था, किन्तु मैं निमित्त हुआ, तब उसमें कार्य हुआ - ऐसी मान्यता में तो स्व-पर की एकत्वबुद्धि ही हुई।

लकड़ी अपने आप ऊँची होती है

'यह लकड़ी है, इसमें ऊपर उठने की योग्यता है, किन्तु जब मेरा हाथ उसे स्पर्श करता है, तब वह उठती है अर्थात् जब मेरा हाथ उसके लिए निमित्त होता है, तब वह उठती है' - ऐसा माननेवाला वस्तु की पर्याय को स्वतन्त्र नहीं मानता, अर्थात् उसकी संयोगीदृष्टि है। वह वस्तु के स्वभाव को ही नहीं मानता; इसलिए मिथ्यादृष्टि है।

जब लकड़ी ऊपर नहीं उठती, तब उसमें ऊपर उठने की योग्यता ही नहीं है और जब उसमें योग्यता होती है, तब वह स्वयं ऊपर उठती है, उसे हाथ ने नहीं उठाया, किन्तु जब वह ऊपर उठती है, तब हाथ इत्यादि निमित्त स्वयमेव होते ही हैं। इस प्रकार उपादान-निमित्त का मेल स्वभाव से ही होता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कथन मात्र व्यवहार ही है कि 'हाथ के निमित्त से लकड़ी ऊपर उठी है।'

लोह चुम्बक सुई की क्रिया नहीं करता

लोह चुम्बक की ओर लोहे की सुई खिंचती है, वहाँ लोह

चुम्बक, सुई को नहीं खींचती किन्तु सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है।

प्रश्न — यदि सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती हो तो जब लोह चुम्बक उसके पास नहीं थी, तब उसने गमन क्यों नहीं किया? और जब लोह चुम्बक निकट आया, तभी क्यों गमन किया?

उत्तर — पहले सुई में गमन करने की योग्यता ही नहीं थी, इसलिए उस समय लोह चुम्बक उसके पास (सुई को खींचने योग्य क्षेत्र में) हो ही नहीं सकती और जब सुई में क्षेत्रान्तर करने की योग्यता होती है, तब लोह चुम्बक आदि कोई निमित्त होता है। उपादान-निमित्त का ऐसा ही सम्बन्ध है कि दोनों का मेल होता है, तथापि एक-दूसरे के कारण किसी की क्रिया नहीं होती। सुई की गमन करने की योग्यता हुई, इसलिए लोह चुम्बक निकट आयी - यह बात नहीं है और लोह चुम्बक निकट आयी, इसलिए सुई खिंच गई - ऐसा भी नहीं है, किन्तु जब सुई की क्षेत्रान्तर होने की योग्यता होती है, उसी समय लोह चुम्बक के उस क्षेत्र में ही रहने की योग्यता होती है, इसी का नाम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; किन्तु हैं दोनों स्वतन्त्र।

निमित्तपने की योग्यता

प्रश्न — जब लोह चुम्बक, सुई में कुछ भी नहीं करती तो फिर उसी को निमित्त क्यों कहा है? अन्य सामान्य पत्थर को निमित्त क्यों नहीं कहा? जैसे लोह चुम्बक, सुई में कुछ नहीं करती, तथापि वह निमित्त कहलाती है, तब फिर लोह चुम्बक की भाँति

अन्य पत्थर भी सुई में कुछ नहीं करते; तथापि उन्हें निमित्त क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर — उस समय, उस कार्य के लिए लोह चुम्बक में ही निमित्तपने की योग्यता है; अर्थात्, उपादान के कार्य के लिए अनुकूलता का आरोप की जाने योग्य योग्यता लोह चुम्बक की उस समय की पर्याय में है, दूसरे पत्थर में वैसी योग्यता उस समय नहीं है। जैसे सुई में उपादान की योग्यता है, इसलिए वह खिंचती है; इसी प्रकार उसी समय लोह चुम्बक में निमित्तपने की योग्यता है, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है। एक समय की उपादान की योग्यता, उपादान में है और एक समय की निमित्त की योग्यता, निमित्त में है किन्तु दोनों की योग्यता का मेल है; इसलिए अनुकूल निमित्त कहलाता है।

लोह चुम्बक में निमित्तपने की जो योग्यता है, उसे अन्य समस्त पदार्थों से पृथक् करके पहचानने के लिए 'निमित्त' कहा जाता है, किन्तु उसके कारण सुई में विलक्षणता नहीं होती। जब उपादान में कार्य होता है, तब व्यवहार से-आरोप से दूसरे पदार्थ को निमित्त कहा जाता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह उपादान और निमित्त दोनों को जानता है।

सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत्

इष्टोपदेश गाथा 35 में कहा है कि सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है। धर्मास्तिकायपदार्थ लोक में सर्वत्र है, जब जीव और पुद्गल अपनी योग्यता से गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है और जब वे गमन नहीं करते तो उसे

निमित्त नहीं कहा जाता। धर्मास्तिकाय की भाँति ही समस्त निमित्तों का स्वरूप समझना चाहिए। धर्मास्तिकाय में निमित्तपने की ऐसी योग्यता है कि जब जीव-पुद्गल गति करते हैं, तब उन्हीं में उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु स्थिति में उसे निमित्त नहीं कहा जाता; स्थिति का निमित्त कहलाने की योग्यता अधर्मास्तिकाय में है।

सिद्धभगवान अलोक में क्यों नहीं जाते ?

सिद्धभगवान अपनी क्षेत्रान्तर की योग्यता से जब एक समय में लोकाग्र में गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है परन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उनका अलोक में गमन नहीं होता - यह कथन निमित्तसापेक्ष है। वास्तव में वे लोकाग्र में स्थित होते हैं, यह भी उनकी ही वैसी योग्यता के कारण से है, उस समय अधर्मास्तिकाय निमित्त है।

प्रश्न — सिद्धभगवान लोकाकाश के बाहर गमन क्यों नहीं करते ?

उत्तर — उनकी योग्यता ही ऐसी है, क्योंकि वह लोक का द्रव्य है और उसकी योग्यता लोक के अन्त तक ही जाने की है; लोकाकाश से बाहर जाने की उनमें योग्यता ही नहीं है। 'अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध वहाँ गमन नहीं करते', इस प्रकार धर्मास्तिकायाभावात् - यह व्यवहारनय का कथन है। तात्पर्य यह है कि उपादान में स्वयं अलोकाकाश में जाने की योग्यता नहीं होती, तब निमित्त भी नहीं होता - ऐसा उपादान-निमित्त का मेल बताने के लिए ही यह कथन है।

निमित्त के कारण उपादान में विलक्षणदशा नहीं होती

प्रश्न — उपादान में निमित्त कुछ नहीं करता, यह बात सच है, किन्तु जब निमित्त होता है, तब उपादान में विलक्षण अवस्था तो होती ही है? जैसे अग्निरूपी निमित्त के आने पर पानी तो उष्ण होता ही है?

उत्तर — जिस पानी की पर्याय का स्वभाव, उसी समय गर्म होने का था, वही पानी, उसी अग्नि के संयोग में आया है और अपनी योग्यता से स्वयं ही गर्म हुआ है; अग्नि के कारण उसे विलक्षण होना पड़ा हो – ऐसी बात नहीं है और अग्नि ने पानी को गर्म नहीं किया है।

मिथ्यादृष्टि, संयोग और सम्यग्दृष्टि, स्वभाव को देखता है

‘अग्नि से पानी गर्म हुआ है’ – ऐसी मान्यता संयोगाधीन-पराधीनदृष्टि है और पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है – ऐसी मान्यता स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि है। संयोगाधीनदृष्टिवन्त जीव, मिथ्यादृष्टि है और स्वभावदृष्टिवन्त जीव, सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक कार्य वस्तु के स्वभाव की समय-समय की योग्यता से होता है। मिथ्यादृष्टि जीव उस स्वभाव को नहीं देखता, किन्तु निमित्त के संयोग को देखता है – यही उसकी पराधीनदृष्टि है। उस दृष्टि से कभी भी स्व-पर की एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव, स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को देखता है कि प्रत्येक वस्तु की समय-समय की योग्यता से ही उसका कार्य स्वतन्त्रता से होता है और उस समय जिस निमित्त की योग्यता होती है, वही निमित्त होता है; दूसरा हो ही नहीं सकता। सबमें अपने कारण से

अपनी अवस्था हो रही है। वहाँ अज्ञानी यह मानता है कि ‘यह कार्य निमित्त से हुआ है अथवा निमित्त ने किया है।’

उपादान और निमित्त की स्वतन्त्र योग्यता

जब आत्मा अपनी पर्याय में राग-द्वेष-मोह करता है, तब कर्म के जिन परमाणुओं की योग्यता होती है, वे उदयरूप होते हैं, कर्म न हो ऐसा नहीं हो सकता किन्तु कर्म उदय में आया, इसलिए जीव के राग-द्वेष हुआ – ऐसा नहीं है और जीव ने राग-द्वेष किया, इसलिए कर्म उदय में आया – ऐसा भी नहीं है। जीव के अपने पुरुषार्थ की अशक्ति से राग-द्वेष होने की योग्यता थी; इसीलिए राग-द्वेष हुए हैं और उस समय जिन कर्मों में योग्यता थी, वे कर्म उदय में आये हैं और उन्हीं को निमित्त कहा जाता है किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं है।

जब ज्ञान की पर्याय अपूर्ण हो, तब ज्ञानावरणकर्म में ही निमित्तपने की योग्यता है। जब जीव अपनी पर्याय में मोह करता है, तब मोहकर्म को ही निमित्त कहा जाता है – ऐसी उन कर्मपरमाणुओं की योग्यता है। जैसे उपादान में प्रति समय स्वतन्त्र योग्यता है, उसी प्रकार निमित्तरूप कर्म के प्रत्येक परमाणुओं में भी समय-समय की स्वतन्त्र योग्यता है।

प्रश्न — क्या यह सच नहीं है कि जीव ने राग-द्वेष किये, इसलिए परमाणुओं में कर्मरूप अवस्था हुई?

उत्तर — यह कथन निमित्त का है। अमुक परमाणु ही कर्मरूप हुए और जगत् के दूसरे अनन्त परमाणु कर्मरूप क्यों नहीं हुए? – इसलिए जिन-जिन परमाणुओं में योग्यता थी, वही परमाणु कर्मरूप

परिणत हुए हैं। वे अपनी योग्यता से ही कर्मरूप हुए हैं, जीव के राग-द्वेष के कारण नहीं।

प्रश्न — जब परमाणुओं में कर्मरूप होने की योग्यता होती है, तब आत्मा को राग-द्वेष करना ही चाहिए क्योंकि परमाणुओं में कर्मरूप होने का उपादान है, इसलिए वहाँ जीव के विकाररूप निमित्त होना ही चाहिए; क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर — यह दृष्टि अज्ञानी की है। भाई! तुझे अपने स्वभाव में देखने का काम है या परमाणु में देखने का? जिसकी दृष्टि स्वतन्त्र हो गयी है, वह आत्मा की ओर देखता है और जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है, वह परमुखापेक्षी रहता है। जिसने यह यथार्थ निर्णय किया है कि 'जब जिस वस्तु की जो अवस्था होनी हो, वही होती है;' उसके द्रव्यदृष्टि होती है, स्वभावदृष्टि होती है; उसकी स्वभावदृष्टि में तीव्र रागादि तो होते ही नहीं और उस जीव के निमित्त से तीव्रकर्मरूप परिणमित होने की योग्यतावाले परमाणु ही इस जगत् में नहीं होते।

जब जीव ने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहाँ उस जीव के लिए मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित होने की योग्यता विश्व के किसी परमाणु में होती ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जो अल्प राग-द्वेष है, वह अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से है, उस समय अल्प कर्मरूप से बँधने की योग्यता परमाणु की पर्याय में है। इस प्रकार स्वलक्ष्य से प्रारम्भ करना है।

'जगत् के परमाणुओं में मिथ्यात्वादि कर्मरूप होने की योग्यता है; इसलिए जीव के मिथ्यात्वादि भाव होना ही चाहिए' -

जिसकी ऐसी मान्यता है, वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव को नहीं जानता और इसलिए उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने योग्य परमाणु इस जगत् में विद्यमान हैं - ऐसा जानना चाहिए किन्तु स्वभावदृष्टि से देखनेवाले जीव के मिथ्यात्व होता ही नहीं और उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादिरूप परिणमित होने की योग्यता ही जगत् के किसी परमाणु में नहीं होती।

स्वभावदृष्टि से ज्ञानी विकार के अकर्ता हो गये हैं, इसलिए यह बात ही मिथ्या है कि 'ज्ञानी को पर के कारण विकार करना पड़ता है।' जो अल्प विकार होता है, वह भी स्वभावदृष्टि के बल अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा दूर होता जाता है। ऐसी स्वतन्त्र स्वभावदृष्टि (सम्यक्श्रद्धा) किये बिना जीव जो कुछ शुभभावरूप व्रत, तप, त्याग करता है, वे सब 'अरण्यरोदन' के समान निष्फल है।

फूँक से पर्वत को उड़ाने की बात!

शङ्का — 'वस्तु में जब जो पर्याय होनी होती है, वह होती है और तब निमित्त अवश्य होता है किन्तु निमित्त कुछ नहीं करता और निमित्त के द्वारा कोई कार्य नहीं होता' - यह तो फूँक से पर्वत को उड़ाने जैसी बात है ?

समाधान — नहीं, यहाँ फूँक से भी पर्वत को उड़ाने की बात नहीं है। पर्वत के अनन्त परमाणुओं में उड़ने योग्यता हो तो पर्वत अपने आप उड़ता है, पर्वत को उड़ाने के लिए फूँक की भी आवश्यकता नहीं होती। यहाँ किसी के मन में यह हो सकता है कि 'अरे यह कैसी बात है! क्या पर्वत भी अपने आप उड़ते होंगे?' किन्तु

भाई! वस्तु में जो काम होता है अर्थात् जो पर्याय होती है, वह उसकी अपनी ही शक्ति से, योग्यता से होती है। **वस्तु की शक्तियाँ अन्य की अपेक्षा नहीं रखती।** परवस्तु का उसमें अभाव है तो वह क्या करे?

उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त

प्रश्न — निमित्त के दो प्रकार हैं - एक उदासीन, दूसरा प्रेरक। इनमें से उदासीन निमित्त कुछ नहीं करता परन्तु प्रेरक निमित्त तो उदासीन को कुछ प्रेरणा करता है ?

उत्तर — निमित्त के भिन्न-भिन्न प्रकार बताने के लिए यह दो भेद हैं किन्तु उनमें से कोई भी निमित्त, उपादान में कुछ भी नहीं करता अथवा निमित्त के कारण उपादान में कोई विलक्षणता नहीं आती। प्रेरक निमित्त भी पर में कुछ नहीं करता। सभी निमित्त 'धर्मास्तिकायवत्' है।

प्रश्न — प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त की क्या परिभाषा है ?

उत्तर — उपादान की अपेक्षा से तो दोनों पर हैं, दोनों अकिञ्चित्कर हैं; इसलिए दोनों समान हैं। निमित्त की अपेक्षा से यह दो भेद हैं। जो निमित्त स्वयं इच्छावान या गतिवान होता है, वह प्रेरक निमित्त कहलाता है और जो निमित्त स्वयं स्थिर या इच्छारहित होता है, वह उदासीन निमित्त कहलाता है। इच्छावान जीव और गतिवान अजीव प्रेरक निमित्त हैं और इच्छारहित जीव तथा गतिहीन अजीव उदासीन निमित्त हैं परन्तु दोनों प्रकार के निमित्त पर में बिल्कुल कार्य नहीं करते। जब घड़ा बनता है, तब उसमें कुम्हार

और चाक प्रेरक निमित्त हैं तथा धर्मास्तिकाय इत्यादि उदासीन निमित्त हैं किन्तु हैं तो सब अकिञ्चित्कर।

यह बात निमित्त की है कि भगवान महावीर के समवसरण में गौतमगणधर के आने से दिव्यध्वनि खिरी और पहले छियासठ दिन तक उनके न आने से भगवान की ध्वनि खिरने से रुकी रही। वाणी के परमाणुओं में जिस समय वाणीरूप से परिणमित होने की योग्यता थी, उस समय ही वे वाणीरूप में परिणमित हुए और उस समय वहाँ गणधरदेव की अवश्य उपस्थिति रहती है। गणधर आये इसलिए वाणी छूटी - ऐसी बात नहीं है। गणधर जिस समय आये, उसी समय उनकी आने की योग्यता थी - ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; इसलिए इस तर्क को अवकाश ही नहीं है कि यदि गौतमगणधर न आये होते तो वाणी कैसे छूटती ?

निमित्त न हो तो... ?

'कार्य होना हो और निमित्त न हो तो... ?' ऐसी शङ्का करनेवाले से ज्ञानी पूछते हैं कि 'हे भाई! इस जगत् में तू जीव ही न होता तो ? अथवा तू अजीव होता तो ?' तब शङ्काकार उत्तर देता है कि 'मैं जीव ही हूँ' इसलिए दूसरे तर्क को स्थान नहीं है।

तब ज्ञानी कहते हैं कि जैसे, तू स्वभाव से ही जीव है, इसलिए उसमें दूसरे तर्क को स्थान नहीं है; इसी प्रकार 'जब उपादान में कार्य होता है, तब निमित्त उपस्थित ही है' - ऐसा ही उपादान-निमित्त का स्वभाव है, इसलिए इसमें दूसरे तर्क को अवकाश नहीं है।

कमल में विकसित होने की योग्यता हो

किन्तु यदि सूर्योदय न हो तो ?

कमल के खिलने और सूर्य के उदय होने में सहज निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु सूर्य का उदय हुआ, इसलिए कमल खिला ऐसा नहीं, वह तो अपनी उस पर्याय की योग्यता से खिला है।

प्रश्न — यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नहीं खिलेगा ?

उत्तर — 'कार्य होना हो किन्तु निमित्त न हो तो ?' ऐसा ही यह प्रश्न है, इसका समाधान उपरोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिए। जब कमल में खिलने की योग्यता होती है, तब सूर्य में भी अपने ही कारण से उदित होने की योग्यता होती है - ऐसा स्वभाव है। कमल में विकसित होने की योग्यता हो और सूर्य में उदित होने की योग्यता न हो - ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। तथापि सूर्य के कारण कमल नहीं खिलता और कमल को खिलना है; इसलिए सूर्य उदय होता है - ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न — यदि सूर्य के कारण कमल नहीं खिलता हो तो ऐसा क्यों होता है कि जब सूर्योदय छह बजे होता है, तब कमल भी छह बजे खिलता है और जब सूर्योदय सात बजे होता है, तब कमल भी सात बजे खिलता है ?

उत्तर — उसी समय कमल में खिलने की योग्यता है, इसीलिए वह तभी खिलता है। पहले उसमें अपने में ही खिलने की योग्यता नहीं थी और उसकी योग्यता बन्द रहने की ही थी। वस्तु में एक समय में दो विरुद्ध प्रकार की पर्यायों की योग्यता नहीं हो सकती।

जैनदर्शन का मूल रहस्य।

वस्तुस्वभाव स्वतन्त्र, निरपेक्ष है। जब तक स्व-पर की भिन्नतारूप इस स्वभाव को न जान ले, तब तक जीव को पर से सच्ची उदासीनता नहीं होती, विकार का स्वामित्व नहीं मिटता और अपनी पर्याय का स्वामी (आधार) जो आत्मस्वभाव है, उसकी दृष्टि नहीं होती। यह स्वतन्त्रता जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

एक परमाणु की स्वतन्त्र शक्ति

प्रत्येक जीव तथा अजीव द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से ही होती है। एक परमाणु भी अपनी ही शक्ति से परिणमित होता है; उसमें निमित्त क्या करता है? एक परमाणु पहले समय में काला होता है और दूसरे समय में सफेद हो जाता है तथा पहले समय में एक अंश काला और दूसरे समय में अनन्त गुना काला हो जाता है, इसमें निमित्त ने क्या किया? वह तो अपनी योग्यता से परिणमित होता है।

इन्द्रियों और ज्ञान का स्वतन्त्र परिणमन

यह बात मिथ्या है कि जड़ इन्द्रियाँ हैं, इसलिए आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है और जिस पर्याय में जैसी योग्यता होती है, उतना ही ज्ञान का विकास होता है। पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान का विकास है, इसलिए पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं - ऐसी बात नहीं है, और पाँच इन्द्रियाँ हैं, इसलिए ज्ञान का विकास है - ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में जितनी योग्यता थी, उतना विकास हुआ है और जिन परमाणुओं में इन्द्रियरूप होने की योग्यता थी, वे स्वयं

इन्द्रियरूप में परिणमित हुए हैं; तथापि दोनों का निमित्त-नैमित्तिक मेल है। जिस जीव के एक ही इन्द्रिय-सम्बन्धी ज्ञान का विकास होता है, उसके एक ही इन्द्रिय होती है; दोवाले के दो; तीनवाले के तीन; चारवाले के चार और पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विकासवाले के पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। वहाँ दोनों का स्वतन्त्र परिणमन है। एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं हुआ है, इसी को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं।

राग-द्वेष का कारण कौन है ?

सम्यग्दृष्टि के भी राग-द्वेष क्यों होता है ?

प्रश्न — यदि कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते हों तो आत्मा में विकार होने का कारण कौन है ? सम्यग्दृष्टि जीवों के विकार करने की भावना नहीं होती, तथापि उनके भी विकार होता है, इसलिए कर्म विकार कराते हैं न ?

उत्तर — कर्म आत्मा को विकार कराता है - यह बात मिथ्या है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है, कर्म, विकार नहीं कराता। सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष करने की भावना नहीं होने पर भी राग-द्वेष होता है, इसका कारण चारित्रगुण की वैसी पर्याय की योग्यता है। राग-द्वेष की भावना नहीं है, वह तो श्रद्धागुण की पर्याय है और राग-द्वेष होता है, यह चारित्रगुण की पर्याय है। अतः इस राग-द्वेष का कारण न तो परद्रव्य है और न आत्मस्वभाव ही उसका कारण है; तत्कालीन पर्याय ही कारण है।

सम्यक् निर्णय का बल और फल

प्रश्न — जो विकार होता है, वह चारित्रगुण की पर्याय की ही

योग्यता है, तब फिर जहाँ तक चारित्रगुण की पर्याय में विकार होने की योग्यता होगी, वहाँ तक विकार होता ही रहेगा ? ऐसा होने पर विकार को दूर करना जीव के आधीन कैसे रहा ?

उत्तर — प्रत्येक समय की स्वतन्त्र योग्यता है - ऐसा निर्णय किस ज्ञान में किया है ? त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुए बिना, ज्ञान में एक-एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता और जहाँ ज्ञान, त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुआ, वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में अधिक समय तक राग-द्वेष रहें, या अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष रहें; ऐसी योग्यता कदापि नहीं होती - ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है और मोक्ष इसका फल है।

कार्य में निमित्त कुछ नहीं करता तथापि उसे

'कारण' क्यों कहा गया है ?

कार्य के दो कारण कहे गये हैं; इनमें एक उपादानकारण ही यथार्थ कारण है, दूसरा निमित्तकारण तो आरोपित कारण है। उपादान और निमित्त, इन दो कारणों के कहने का आशय ऐसा नहीं है कि दोनों एकत्रित होकर कार्य करते हैं। जब उपादानकारण स्वयं कार्य करता है, तब दूसरी वस्तु पर आरोप करके उसे निमित्तकारण कहा जाता है किन्तु वास्तव में दो कारण नहीं हैं, एक ही कारण है। जैसे मोक्षमार्ग दो नहीं, एक ही है।

प्रश्न — जब निमित्त वास्तव में कारण नहीं है, तब फिर उसे कारण क्यों कहा ?

उत्तर — जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ में उस प्रकार की अर्थात् निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए अन्य पदार्थों से पृथक् पहिचानने के लिए उसे 'निमित्तकारण' की संज्ञा दी गयी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह पर को भी जानता है और पर में जो निमित्तपने की योग्यता है, उसे भी जानता है।

कर्मोदय के कारण जीव को विकार नहीं होता

जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्तरूप अवश्य होता है किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। कर्मोदय के कारण विकार नहीं होता और विकार किया इसलिए कर्म उदय में आये, ऐसा भी नहीं है तथा जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं, उसे निमित्त कहते हैं, उस समय उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी थी।

जिस द्रव्य की, जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में और जिस प्रकार, जैसी अवस्था होनी हो, वैसी उसी प्रकार अवश्य होती है, उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता - इस श्रद्धा में तो वीतरागी दृष्टि हो जाती है। इसमें स्वभाव की दृढ़ता और स्थिरता की एकता है तथा विकार से उदासीन और पर से भिन्नता है; इस प्रकार इसमें प्रति समय भेदविज्ञान का वीतरागी कार्य है।

नैमित्तिक की व्याख्या

प्रश्न — नैमित्तिक का अर्थ व्याकरण के अनुसार तो ऐसा होता है कि 'जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है।' जबकि यहाँ तो यह कहा है कि निमित्त से नैमित्तिक में कुछ नहीं होता; इसका क्या कारण है ?

उत्तर — 'जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है, अर्थात् निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है' यह परिभाषा व्यवहार से की गयी है। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता किन्तु उपादान का जो कार्य है, वह नैमित्तिक है और जब नैमित्तिक अर्थात् कार्य होता है, तब निमित्त भी होता है; इसलिए उपचार से उस निमित्त को जनक भी कहा जाता है। नैमित्तिक का अर्थ ऐसा भी होता है कि 'जिसमें निमित्त का सम्बन्ध हो, वह नैमित्तिक है' अर्थात् जब नैमित्तिक होता है, तब निमित्त भी अवश्य ही होता है, इतना सम्बन्ध है किन्तु यदि निमित्त, नैमित्तिक में कुछ भी करे तो उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहकर कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाएगा किन्तु दो भिन्न द्रव्यों के बीच में कर्ता-कर्म सम्बन्ध कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न — निमित्त के द्वारा उपादान का कार्य होता है, अतः हमें निमित्त मिलाना चाहिए; हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर — यह बात मिथ्या है। मैं निमित्त मिलाऊँ, इस मान्यता में पर की कर्तृत्वबुद्धि और पराधीनदृष्टि है। निमित्त नहीं था, इसलिए कार्य रुक गया और निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो, यह बात सच नहीं है, किन्तु जब कार्य होना ही नहीं था, इसलिए तब निमित्त भी नहीं था और जब कार्य होता है, तब निमित्त भी अवश्य होता है - यह अबाधित नियम है। पर निमित्तों को आत्मा प्राप्त कर सकता है - ऐसा मानना ठीक नहीं है।

इस प्रकार आत्मा को अपने कार्य में पर की अपेक्षा नहीं है। कोई यह माने कि 'हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए'

तो वह जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करेगा अर्थात् उसकी दृष्टि बाहर में ही रहा करेगी और वह पर की उपेक्षा करके स्वभावदृष्टि का निर्मल कार्य प्रगट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी नहीं होता, किन्तु उपादान की योग्यता से ही (उपादान के मार्ग से ही) उसका कार्य होता है।

जिनशासन का उपदेश :- निमित्त की उपेक्षा करके स्वसन्मुख होओ

निमित्त की उपेक्षा नहीं करना अर्थात् परद्रव्य के साथ का सम्बन्ध नहीं तोड़ना - ऐसी मान्यता जैनशासन के विरुद्ध है। जैनशासन का प्रयोजन दूसरे के साथ सम्बन्ध कराना नहीं, किन्तु दूसरे के साथ का सम्बन्ध छुड़ाकर वीतरागभाव कराना है। समस्त सत्शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव, स्वभाव के लक्ष्य द्वारा समस्त परपदार्थों से उदासीनता होने पर ही होता है। किसी भी परलक्ष्य में रुकना शास्त्र का प्रयोजन नहीं है क्योंकि पर के लक्ष्य से राग होता है। निमित्त भी परद्रव्य है, इसलिए निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अर्थात् उसकी उपेक्षा करके, अपने स्वभाव के सन्मुख होना ही प्रयोजन है। 'निमित्त की उपेक्षा करने योग्य नहीं है, अर्थात् निमित्त का लक्ष्य छोड़ने योग्य नहीं है' - ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है और उस मिथ्याअभिप्राय को छोड़ने के बाद भी अस्थिरता के कारण निमित्त पर लक्ष्य जाता है, वह राग का कारण है; इसलिए अपने स्वभाव के आश्रय से निमित्त इत्यादि परद्रव्यों की उपेक्षा करना ही यथार्थ है।

मुमुक्षु जीवों को अवश्य समझने योग्य

यह उपादान-निमित्त सम्बन्धी बात विशेष प्रयोजनभूत है।

इसे समझे बिना जीव की दो द्रव्यों में एकता की बुद्धि कदापि दूर नहीं हो सकती और स्वभाव की श्रद्धा नहीं हो सकती। स्वभाव की श्रद्धा हुए बिना स्वभाव में अभेदता नहीं होती अर्थात् जीव का कल्याण नहीं होता। ऐसा ही वस्तुस्वभाव केवलज्ञानियों ने देखा है और सन्त मुनियों ने कहा है। यदि जीव को कल्याण करना हो तो उसे यह समझना होगा।

प्रश्न — समर्थ कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर — जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त दोनों एकसाथ होते हैं; इसलिए उन दोनों को एक ही साथ समर्थ कारण कहा जाता है और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव ही रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उपादान के कार्य में निमित्त कुछ करता है। वस्तुतः तो जब उपादान की योग्यता होती है, तब निमित्त अवश्य होता है।

प्रश्न — समर्थ कारण द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तर — वर्तमान पर्याय ही समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय को वर्तमान पर्याय का उपादानकारण कहना व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण-कार्य है और इससे भी आगे बढ़कर कहें तो एक पदार्थ में कारण और कार्य ऐसे दो भेद करना भी व्यवहार है। वास्तव में तो प्रत्येक समय की पर्याय अहेतुक है।

प्रश्न — मिट्टी को घड़े का उपादानकारण कहा जाता है, यह कैसे ?

उत्तर — वास्तव में घड़े का उपादानकारण सभी मिट्टी नहीं है, किन्तु जिस समय घड़ा बनता है, उस समय की अवस्था ही

स्वयं उपादानकारण है। मिट्टी को घड़े का उपादानकारण कहने का हेतु यह है कि घड़ा बनने के लिए मिट्टी में जैसी सामान्य योग्यता है, वैसी योग्यता अन्य पदार्थों में नहीं है। मिट्टी में घड़ा बनने की विशेष योग्यता तो जिस समय घड़ा बनता है, उसी समय है; उससे पूर्व उसमें घड़ा बनने की विशेष योग्यता नहीं है; इसलिए विशेष योग्यता ही सच्चा उपादानकारण है, जो कि कार्य का उत्पादक है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे जीव में लागू करते हैं -

सम्यग्दर्शन प्रगट होने की सामान्य योग्यता तो प्रत्येक जीव में है, जीव से अतिरिक्त अन्य किसी में वैसी सामान्य योग्यता नहीं है। सम्यग्दर्शन की सामान्य योग्यता (शक्ति) समस्त जीवों में है किन्तु विशेष योग्यता भव्यजीवों में ही होती है; अभव्यजीवों के तथा भव्यजीव जब तक मिथ्यादृष्टि रहता है, तब तक उसके भी सम्यग्दर्शन की विशेष योग्यता नहीं होती। विशेष योग्यता तो उसी समय है, जिस समय जीव, पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। सामान्य योग्यता द्रव्यरूप है और विशेष योग्यता प्रगटरूप है; सामान्य योग्यता कार्य के प्रगट होने का उपादानकारण नहीं किन्तु विशेष योग्यता ही उपादानकारण है।

प्रश्न — 'चारित्र्यदशा प्रगट होती है, इसलिए वस्त्र नहीं छूट जाते किन्तु वस्त्र के परमाणुओं की योग्यता से ही वे छूटते हैं' - ऐसा आपने कहा है किन्तु किसी जीव के चारित्र्यदशा प्रगट होती हो और वस्त्र में छूटने की योग्यता न हो तो क्या सवस्त्र मुक्ति हो जाएगी ?

उत्तर — सवस्त्र मुक्ति होने की तो बात ही नहीं है। चारित्र्यदशा का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे वस्त्र के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता ही नहीं; इसलिए चारित्र्यदशा में सहज ही वस्त्र का त्याग होता है तो भी वस्त्र का त्याग उन परमाणुओं की अवस्था की योग्यता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न — यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वस्त्र डाल जाए तो उस समय उनके चारित्र्य का क्या होगा ?

उत्तर — किसी दूसरे जीव के द्वारा वस्त्र डाला जाए यह तो उपसर्ग है; इससे मुनि के चारित्र्य में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वस्त्र के साथ उनके चारित्र्य का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है; वस्तुतः वहाँ तो वस्त्र ज्ञान का ज्ञेय है अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायकपने का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

सम्यक् नियतवाद क्या है ?

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध जिस समय जो होनी हो, वही होती है - ऐसा 'सम्यक् नियतवाद' जैनदर्शन का वास्तविक स्वभाव है - यही वस्तुस्वभाव है। 'नियत' शब्द शास्त्रों में अनेक जगह आता है किन्तु नियत का अर्थ है निश्चित-नियमबद्ध; वह एकान्तवाद नहीं किन्तु वस्तु का यथार्थ स्वभाव है, यही अनेकान्तवाद है। सम्यक्नियतवाद का निर्णय करते समय, बाह्य में राजपाट का संयोग हो तो वह छूट ही जाना चाहिए - ऐसा नियम नहीं है किन्तु उसके प्रति यथार्थ उदासभाव अवश्य हो जाता है। बाह्य संयोग में अन्तर पड़े या न पड़े किन्तु अन्तर के निर्णय में अन्तर पड़ जाता है।

अज्ञानी जीव नियतवाद की बातें करता है किन्तु ज्ञान और पुरुषार्थ को स्वभावसन्मुख करके निर्णय नहीं करता। नियतवाद का निर्णय करने में जो ज्ञान और पुरुषार्थ आता है, उसे यदि जीव पहिचाने तो स्वभावाश्रित वीतरागभाव प्रगट हो और पर से उदास हो जाए क्योंकि सम्यक् नियतवाद का निर्णय किया कि स्वयं सबका मात्र ज्ञानभाव से ज्ञाता-दृष्टा रह गया और पर का या राग का कर्ता नहीं रहा।

जब स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति ही है तो फिर उसमें पर क्या करें? जब उपादान-निमित्त का यथार्थ निर्णय हो जाता है, तब पर का कर्तृत्वभाव उड़ जाता है और वीतरागदृष्टिपूर्वक वीतरागी स्थिरता का प्रारम्भ हो जाता है। अज्ञानीजन इस नियतवाद को एकान्तवाद और गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि यह सम्यक् नियतवाद ही अनेकान्तवाद है और इसके निर्णय में जैनदर्शन का सार आ जाता है तथा यह केवलज्ञान का कारण है।

कुछ अकस्मात् है ही नहीं

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि के अकस्मात् भय नहीं होता, इसका क्या कारण है?

उत्तर — सम्यग्दृष्टि को यथार्थ नियतवाद का निर्णय है कि जगत् के समस्त पदार्थों की अवस्था उनकी योग्यतानुसार ही होती है। जो न होना हो - ऐसा कुछ होता ही नहीं; इसलिए कुछ अकस्मात् है ही नहीं, इस निःशङ्क श्रद्धा के कारण सम्यग्दृष्टि को अकस्मात् भय नहीं होता। वस्तु की पर्यायें क्रमशः ही होती हैं,

अज्ञानी को इसकी प्रतीति नहीं है; इसलिए उसे अकस्मात् भय रहता है और कर्तृत्वबुद्धि रहती है।

निमित्त किसका ? और कब ?

यदि निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझे तो यह मान्यता दूर हो जाए कि निमित्त, उपादान में कुछ करता है, क्योंकि जब कार्य है, तब तो पर को उसका निमित्त कहा गया है, कार्य के बिना किसी को उसका निमित्त नहीं कहा जाता। जो कार्य हो चुका है, उसमें निमित्त क्या करेगा ? और कार्य के बिना निमित्त किसका ? कुम्हार किसका निमित्त है ? यदि घड़ारूपी कार्य हो तो कुम्हार उसका निमित्त हो और यदि कार्य ही न हो तो किसी को 'घड़े का निमित्त' कहा ही नहीं जा सकता। जब घड़ा बनता है, तभी कुम्हार को निमित्त कहा जाता है, तो फिर कुम्हार ने घड़े में कुछ भी किया - यह बात स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न — उपादान में कार्य न हो तो परद्रव्य को निमित्त नहीं कहा जाता, यह बात ऊपर कही गई है परन्तु 'इस जीव को अनन्त बार धर्म का निमित्त मिला, तथापि जीव स्वयं धर्म को नहीं समझ पाया' - ऐसा कहा जाता है और उसमें जीव के धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ तो भी परद्रव्यों को धर्म का निमित्त तो कहा है ?

उत्तर — 'इस जीव को अनन्त बार धर्म का निमित्त मिला किन्तु स्वयं धर्म को नहीं समझा' - ऐसा कहा जाता है, यहाँ यद्यपि उपादान में (जीव में) धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ; इसलिए वास्तव में उसके लिए तो वे पदार्थ धर्म के निमित्त भी नहीं हैं परन्तु जो जीव धर्म प्रगट करते हैं, उन जीवों को इस प्रकार के ही निमित्त होते हैं -

ऐसा ज्ञान कराने के लिए उसे सामान्यरूप से निमित्त कहा जाता है।

अनुकूल निमित्त

अमुक पदार्थों को अनुकूल निमित्त कहा है; इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ प्रतिकूल हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल है ही नहीं। निमित्त को अनुकूल कहने का अर्थ इतना ही है कि कार्य के होते समय उस पदार्थ में निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए उस पर अनुकूलता का आरोप आ सकता है।

दो पर्यायों की योग्यता एक समय में नहीं होती

एक समय में दो पर्याय की योग्यताएँ कदापि नहीं होती। जिस समय जैसी योग्यता है, वैसी पर्याय प्रगट होती है और उसी समय यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ दो पर्यायें हो जाएँ, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रगट होती है, उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती। आटारूप पर्याय की योग्यता के समय रोटीरूप पर्याय की योग्यता नहीं होती, तब फिर इस बात को अवकाश ही कहाँ है कि निमित्त नहीं मिला इसलिए रोटी नहीं बनी? और जब रोटी बनती है, तब उससे पूर्व की आटारूप पर्याय का अभाव करके ही बनती है, तब फिर दूसरे को उसका कारण कैसे कहा जा सकता है? हाँ, जो परमाणु आटारूप पर्याय से व्यय हुआ, उसे रोटीरूप पर्याय का कारण कहा जा सकता है।

‘जीव पराधीन है’ इसका क्या अर्थ है?

प्रश्न — समयसार नाटक में स्याद्वाद अधिकार के 9 वें

काव्य में जीव को पराधीन कहा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! जीव पराधीन है या स्वाधीन? तब श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि द्रव्यदृष्टि से जीव स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है। वहाँ जीव को पराधीन क्यों कहा है?

उत्तर — पर्यायदृष्टि से जीव पराधीन है अर्थात् जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर परलक्ष्य द्वारा स्वयं स्वतन्त्ररूप से पराधीन होता है परन्तु परद्रव्य जीव पर बलजोरी करके उसे पराधीन नहीं करते। पराधीन अर्थात् स्वयं स्वतन्त्ररूप से पर के आधीन होता है, पराधीनता मानता है; न कि परपदार्थ उसको आधीन करते हैं।

द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का क्रम

प्रश्न — यह उपादान-निमित्त की बात तो द्रव्यानुयोग की है। परन्तु पहले तो जीव चरणानुयोग के अनुसार श्रद्धानी हो और उस चरणानुयोग के अनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि को अङ्गीकार करे और फिर द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धानी होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे - ऐसी जैनधर्म की परिपाटी कितने ही जीव मानते हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तर — नहीं, जैनमत की ऐसी परिपाटी नहीं है। जैनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, पीछे व्रत होते हैं। सम्यक्त्व, स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है। इस प्रकार मुख्यरूप

से तो निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणरूप से, जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है; इसलिए समस्त जीवों को मुख्यरूप से द्रव्यानुयोग के अनुसार अध्यात्म-उपदेश का अभ्यास करना चाहिए। यह जानकर निचलीदशावालों को भी द्रव्यानुयोग के अभ्यास से पराङ्गमुख होना योग्य नहीं है।●●

ऐसी मुनिदशा को कौन नहीं मानेगा ?

प्रश्न - आप मुनि को तो मानते नहीं हो न ?

उत्तर - अरे भाई! हम तो दिगम्बर सन्तों-महामुनिवरों के दासानुदास हैं। तीन कषाय के अभाववाली, अन्तरङ्ग में अतीन्द्रिय शान्ति-आनन्द प्रगटा हो - ऐसी मुनिदशा तो साक्षात् मोक्षमार्ग है। अहा! ऐसी मुनिदशा को कौन न माने भाई? अहा! दिगम्बर सन्त-मुनिवरों की अन्तर्बाह्य दशा कोई अद्भुत अलौकिक होती है, परन्तु बाह्य द्रव्यलिङ्गमात्र मुनिपना नहीं है। आगमानुसार बाह्य व्रतादि का सच्चा व्यवहार हो, वह द्रव्यलिङ्ग है, परन्तु आगम-प्रमाण सच्चा व्यवहार न हो, वहाँ क्या करें? चौका लगाकर अपने लिये बनाया हुआ आहार ले, इसमें तो आगम-प्रमाण सच्चे व्यवहार का अर्थात् द्रव्यलिङ्ग का भी ठिकाना नहीं है। भाई! किसी का अनादर करने की या किसी को दुःख देने की यह बात नहीं, पर तेरी चीज कैसी है, मोक्षमार्ग का स्वरूप कैसा है, वह अपने लिये समझने की बात है।

(- प्रवचनरत्नाकर, भाग -11, पृष्ठ -78)

निमित्त-उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तरूप से निश्चित होती है। एक वस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप से अस्तिरूप है और पररूप से नास्तिरूप है; ऐसे अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है। इसी न्याय से उपादान-निमित्त का स्वरूप भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निम्नानुसार निश्चित होता है —

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान और निमित्त, यह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं; दोनों पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से अस्तिरूप हैं और दूसरे के स्वरूप से नास्तिरूप हैं; इस प्रकार निमित्त स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है। निमित्त, निमित्तरूप से है और उपादानरूप से वह नास्तिरूप है; इसलिए उपादान में निमित्त का अभाव है; अतः उपादान में निमित्त कुछ नहीं कर सकता। निमित्त, निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नहीं करता — ऐसा अनेकान्तरूप है। ऐसे अनेकान्तस्वरूप से निमित्त को जानने पर ही निमित्त का यथार्थ ज्ञान होता है।

‘निमित्त, निमित्त का कार्य भी करता है और निमित्त, उपादान का कार्य भी करता है’ — ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपनेरूप से भी अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है; ऐसा होने से निमित्त पदार्थ में अस्ति-नास्तिरूप से परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नहीं हुए; इसलिए वह मान्यता एकान्त है। इसलिए ‘निमित्त उपादान का कुछ करता है’ — ऐसा जिसने माना उसने अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निमित्त के स्वरूप को नहीं जाना, किन्तु अपनी मिथ्याकल्पना से एकान्त मान लिया है; उसने उपादान-निमित्त की भिन्नता, स्वतन्त्रता नहीं मानी, किन्तु उन दोनों की एकता मानी है; इसलिए उसकी मान्यता मिथ्या है।

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान, स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है; इस प्रकार उपादान का अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्तस्वभाव है। उपादान के कार्य में उपादान के कार्य की अस्ति है और उपादान के कार्य में निमित्त के कार्य की नास्ति है — ऐसे अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है, तब उपादान में निमित्त क्या करे? कुछ भी नहीं कर सकता। जो ऐसा जानता है, उसने उपादान को अनेकान्तस्वरूप से जाना है; किन्तु ‘उपादान में निमित्त कुछ भी करता है’ — ऐसा माननेवाले ने उपादान के अनेकान्तस्वरूप को नहीं जाना है, किन्तु एकान्तस्वरूप से माना है; इसलिए उसकी मान्यता मिथ्या है। ●●

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव से संग्रहीत अंश)

तत्त्वचर्चा

अन्तरङ्ग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति

श्री षट्खण्डागम की धवला टीका, श्री वीरसेनाचार्य द्वारा रचित है। उसमें चूलिका नामक छठवीं पुस्तक में कर्मों की स्थितिबन्ध का वर्णन किया है।

वहाँ सूत्र 4 में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असातावेदनीय, और अन्तरायकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहा है। मूल सूत्र इस प्रकार है —

पंचणहं णाणावरणीयाणं णवणहं दंसणावरणीयाणं
असादावेदणीयं पंचणहमंतराड्याणमुक्कस्समओ ट्ठिठदिबंधो तीसं
सागरोवमकोडाकोडीओ ॥

अर्थात् पाँचों ज्ञानावरणीय, नवों दर्शनावरणीय, असातावेदनीय और पाँचों अन्तराय, इन कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

(- षट्खण्डागम, पुस्तक 6, पृष्ठ 146)

सूत्र 7 में सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति और मनुष्यगतिप्रायोग्यानु-पूर्वीनामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहा है।

मूल सूत्र इस प्रकार है —

सादावेदणीय-इत्थिवेद-मणुसगदि-मणुसगदि-पाओग्गाणु-

पुव्विणामाणमुक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो पण्णारस सागरोवम-
कोडाकोडीओ ॥

अर्थात् सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति और मनुष्यगति-
प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म, इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पन्द्रह
कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। (- षट्खण्डागम, पुस्तक 6, पृष्ठ 158)

सूत्र 10 में मिथ्यात्वकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी
सागरोपम कहा है। मूल सूत्र इस प्रकार है —

मिच्छत्तस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो सत्तरि सागरोवम-
कोडाकोडीओ ॥

अर्थात् मिथ्यात्वकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी
सागरोपम है। (- षट्खण्डागम, पुस्तक 6, पृष्ठ 159)

सूत्र 13 में अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध
चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहा है।

मूल सूत्र इस प्रकार है —

सोलसण्हं कसायाणं उक्कस्सगो ट्ठिदिबंधो चत्तालीसं
सागरोवमकोडाकोडीओ ॥

अर्थात् अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध
चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। (- षट्खण्डागम, पुस्तक 6, पृष्ठ 161)

सूत्र 19 में नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि कर्मप्रकृतियों
का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम कहा है।

मूल सूत्र इस प्रकार है —

णउंसयवेद-अरदि-सोग-भय-दुगुंछा णिरयगदी तिरिक्खगदी
एइंदिय-पंचिंदियजादि-ओरालिय-वेउव्विय-तेजा-कम्मइयसरीर-
हुंड-संठाण-ओरालिय-वेउव्वियसरीर-अंगोवंग-असंपत्त-
सेवट्टसंघडण-वण्ण-गंध-रस-फास-णिरियगदि-तिरिक्खगदि-

पाओग्गाणुपुव्वी अगुरुअलहुअ-उवघादं-परघाद-उस्सास-आदाव-
उज्जोव-अप्पसत्थ-विहायगदि-तस-थावर-बादर-पज्जत्त-
पत्तेयसरीर-अथिर-असुभ-दुब्भग-दुस्सर-अणादेज्ज-अजस-कित्ति-
णिमिण-णीचागोदाणं उक्कस्सगो ट्ठिदिबंधो वीसं सागरोवम-
कोडाकोडीओ ।

अर्थात् नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नरकगति, तिर्यगति,
एकेन्द्रियजाति, पञ्चेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर,
तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुंडसंस्थान, औदारिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग,
वैक्रियिकशरीर-अङ्गोपाङ्ग, असंप्राप्तासृपाटिका-संहनन, वर्ण, गन्ध, रस,
स्पर्श, नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात,
परघात, उच्छ्वास, आताप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर,
बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भंग, दुःस्वर, अनादेय,
अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र - इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध
बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। (- षट्खण्डागम, पुस्तक 6, पृष्ठ 164)

एक ही कषाय परिणाम के निमित्त से होनेवाली भिन्न-भिन्न प्रकृतियों
का स्थितिबन्ध एक समान न होकर, अलग-अलग क्यों होता है ? इसका
स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वीरसेनस्वामी कहते हैं कि 'प्रकृतियों
का अपना अन्तरङ्ग कारण ही वास्तविक कारण है।'

आचार्य वीरसेन का मूलकथन इस प्रकार है —

'कुदो। पयडिविसेसादो! ण च सव्वाइं कज्जाइं एयंतेण
बज्जत्थमवेक्खिय चे उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि
उप्पत्तिप्पसंगा। ण च तरिसाइं दव्वाइं तिसु वि कालेसु कहिं पि
अत्थि, जेसि घलेण सालिबीजस्स जवंकुरुप्पा-यणसत्ती होज्ज,
अणवत्थापसंगादो। तम्हा कम्हि वि अन्तरङ्ग कारणादो चेव
कज्जुप्पत्ती होदि ति णिच्छओ कायव्वो।'

अर्थात् क्योंकि, प्रकृतिविशेष होने से इन सूत्रोक्त प्रकृतियों का यह

स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके ही नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्य के बीज से जौ के अङ्कुर की भी उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा, किन्तु उस प्रकार के द्रव्य तीनों ही कालों में किसी भी क्षेत्र में नहीं है कि जिनके बल से शालिधान्य के बीज से जौ के अङ्कुर को उत्पन्न करने की शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगेगा तो अनवस्थादोष प्राप्त होगा। इसलिए कहीं पर भी अन्तरङ्ग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है — ऐसा निश्चय करना चाहिए।

(षट्खण्डागम, 6वीं पुस्तक, सूत्र 19 की टीका, पृष्ठ 164)

दशवें गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं होता; इसी प्रकार लोभ के अन्तिम अंश मोहनीय के बन्ध का कारण नहीं होते; अतः मोहनीय कर्मप्रकृति का बन्ध भी नहीं होता। वहाँ ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की चार, अन्तराय की पाँच, सातावेदनीय की एक, नामकर्म की एक तथा गोत्रकर्म की एक — इस प्रकार सत्रह कर्मप्रकृतियों का बन्ध पड़ता है। अब, इन सभी प्रकृतियों में निमित्तकारण तो अबुद्धिपूर्वक लोभ के परिणाम एक ही हैं। लोभ का अंश सबको निमित्तरूप एक ही होने पर भी, कर्मप्रकृतियों के स्थितिबन्ध में अन्तर पड़ता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मप्रकृतियों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बँधती है; सातावेदनीय की बारह मुहूर्त की, यशकीर्ति नामकर्म की आठ मुहूर्त की और उच्चगोत्र की आठ मुहूर्त की स्थिति बँधती है — इस प्रकार स्थितिबन्ध भिन्न-भिन्न पड़ता है।

यदि निमित्त के अनुसार ही पर में कार्य हो तो इन सत्रह ही कर्मप्रकृतियों की स्थिति एक समान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है; इससे स्पष्ट है कि निमित्तकारण से कार्य नहीं होता, किन्तु उन-उन कर्मप्रकृतियों के क्षणिक उपादान की योग्यता से ही स्थितिबन्ध होता है — ऐसा ही उन प्रकृतियों का पर्यायधर्म है; अतः अभ्यन्तर कारण से ही कार्य होता है — यह निश्चय करना। ●●

(रात्रि चर्चा, पूज्य गुरुदेवश्री 28-8-1954 शनिवार, सद्गुरु प्रवचनप्रसाद)

तीर्थधाम मङ्गलायतन ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक -

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातृश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10) श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द्र जैन चन्द्रकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दवाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरिन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीण शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

संरक्षक -

(1) अहिंसा चैरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द्र छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द्र जैन, धेवरचन्द्र जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातृश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

परम सहायक -

(1) पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार

बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्पाफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द्र संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्पाफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द्र जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द्र गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेंद्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।